सर्वाधिकार सुरक्षित

कपूरचन्द वरैया, बी. ए

महेन्द्र प्रेस—लशकर (मध्य भारत)

प्रथमबार ५००

संवत विक्रमी २००६

न्यौछावर २॥)

❀ वक्तव्य ❀

पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसादजीवर्णी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। जैन समाज के प्रायः आबाल-वृद्ध सभी उनके शुभ नाम से परिचित हैं। क्यों न हो — जिन्होंने अपने अमूल्य प्रवचनों के उपकार से समाज को अत्यधिक उपकृत किया, जिन्होंने सुधा स्रोतस्वती पुण्य -सलिला आध्यात्मिक रस की मंदाकिनी की धवल धारा बहा दी, भला उनका प्रातः स्मरणीय पुनीत नाम किसके हृदय - पटल पर अंकित न होगा। जिनकी सौम्यमूर्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय का कण्ठाभरण बन रही है, जिनकी असाधारण प्रतिभा आज सबको मनोमुग्ध कर रही है, उन त्यागी महापुरुष गणेश प्रसाद वर्णी के नाम से परिचित न होना महान आश्चर्य का विषय है। मुझे तो उनका परिचय देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। कहीं दीपक द्वारा भी भास्कर का दर्शन किया जा सकता है।

वर्णी - संघ का देहली की ओर पुण्य - विहार मेरी दृष्टि में एक महत्वपूर्ण घटना है। वास्तव में इसका अधिकतर श्रेय यदि किसी को मिलना चाहिए तो वह केवल देहली वालों को, जिन्होंने किसी प्रकार के कष्ट की परवाह न कर संघ को देहली की ओर चलने को प्रेरित किया। बीच बीच में जो अधिवेशन और सम्मेलन हुए इसका भी श्रेय एक मात्र उन्हीं को है। सच तो यह है कि इस प्रकार के कार्य से उन्होंने महान् पुण्य का बंध किया और अपनी वास्तविक अन्तरंग भक्ति का परिचय दिया।

वर्णी-संघ का मुरार में चातुर्मास

देहली की ओर प्रस्थान करता हुआ जब वर्णी-संघ लश्कर पहुँचा तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। वहाँ उनके प्रथम प्रवचन से मेरा मन अत्यधिक आकृष्ट हुआ। यही कारण है कि उनके नित्य प्रति प्रवचनों को सुनने के लिये मेरी अन्तरात्मा सदैव मुझे प्रेरित करती रही।

चार दिवस पश्चात् वर्णी-संघ मुरार में सेठ गुलाबचन्दजी के बगीचे में पहुँचा। स्थान की उपयुक्तता तथा बगीचे की मनो-हरता से संघ का चातुर्मास पूर्ण होने का वहीं निश्चय हुआ। फलतः ऐसे शुभ सन्देश को पाकर मेरा आनन्द से विभोर हो गया और वहाँ भी मैं प्रति दिन जाकर उनके उपदेशों से लाभ लेने लगा।

उनके प्रवचनों को सुनते २ अकस्मात् मेरे मन में यह विचार आया कि क्यों न ऐसे अमूल्य सदुपदेशों को लिख लिया जाय ताकि चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् भी उनकी वाणी मेरी नोटबुक में सदा सुरक्षित रहे। इसी-लिये उनके प्रवचनों को सुनने के पश्चात् मैंने लिखना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार एक विद्यार्थी क्लास के नोट्स बनाता है उसी प्रकार मैंने बाबाजी के प्रवचनों के नोट्स बनाना प्रारम्भ कर दिए। लिखते २ जब वे प्रवचन इतने परिमाण में इकट्ठे हो गए तो इन्हें पुस्तकाकार कर देने में मुझे तनिक-भी संकोच न हुआ। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक मुरार में वर्णी-संघ के चातुर्मास के अन्तराल में लिखी गई है।

पुस्तक के सम्बन्ध में तो मुझे विशेष कुछ कहना नहीं है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि जहाँ तक हो सका है मैंने बाबाजी के वाणी को अनुकरण करने का चेष्टा की है। इस अनुकरण में

मुझे कहाँ तक सफलता मिली इसका निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। एक बात और है वह यह कि अनुकरण के साथ २ अपनी ओर से लिखने का भी स्वतंत्र अधिकार मैंने नहीं छोड़ा है। यह कहना तो एक प्रकार व्यर्थ सा होगा कि मैंने अक्षरश उनकी वाणी का अनुकरण किया पर हाँ, इतना अवश्य है कि मेरी अल्प बुद्धि से कोई ऐसा स्थूल सिद्धान्त नहीं छूट पाया जिसको मैंने न लिख पाया हो। बाबाजी के 'भइया' आदि प्रिय शब्द भी मैंने यथास्थान लिख लिए हैं जिससे पाठकों को पुस्तक पढ़ते समय उनके प्रवचनों के सुनने सा साक्षात् आनन्द मिले। जहां तक मुझ से बन पड़ा है स्वाभाविकता को हांथ से नहीं जाने दिया है।

पुस्तक मे पुनरुक्ति दोष भी पाठको को कहीं २ मलेगा पर हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बाबाजी का एक प्रिय ग्रन्थ 'समयसार' है जिसको व्याख्या वे प्रात.काल के अवसर पर करते हैं। दश या अधिक से अधिक बीस दिन में वह ग्रन्थ पूर्ण होजाता है और फिर वे उसकी व्याख्या प्रारम्भ कर दिया करते हैं। ऐसी स्थिति में पुनरुक्ति दोष का आजाना संभव हैं। इसके अतिरिक्त जहां कहीं भी पुनरुक्ति हुई है वहाँ सर्वथा एक नवीन ढग से तथा नवीन दृष्टान्त को लिए हुए। इस प्रकार इस दोष का सहज ही निराकरण हो जाता है।

प्रश्नोत्तर भी जहाँ कहीं हुए हैं उनको भी मैंने यथास्थान लिख लिया है। पर कहीं कहीं ऐसे भी प्रश्नोत्तर हुए जिनका समझना मेरी बुद्धि के बाहर था उनको मैंने लिखना उचित नहीं समझा। क्या ही अच्छा होता यदि मैं उन प्रश्नोंत्तरों समझकर

लिख देता तो जिससे मैं अपना और पाठकों का अधिक लाभ कर सकता?

वैसे तो पुस्तक की उपयोगिता असंदिग्ध है। उनके प्रवचनों को सुनने के लिए जैन ही नहीं जैनतर लोग भी प्राय इच्छुक रहते हैं। आज जैनियो की संख्या अल्प है इसका कारण खोजने पर भी आपको मालूम न पडेगा जिसको बाबाजी ने मुरार के एक प्रवचन में अपने मधुर शब्दों द्वारा कितनी अच्छी तरह व्यक्त कर दिया है जो आज भी मेरी धुंधली स्मृति में अंकित है--

'आज १२ या १३ लाख जैनी रह गए। इतने थोड़े क्यों रह गए? इसका कारण यही कि हमने उस हीरे को अपनी मुट्ठी में ही सीमित कर लिया उसका प्रकाश चारों तरफ न होने दिया। हम शूद्रों को अपना धर्म बतलाने में हिचकते हैं। उन्हें नीच कहते हैं। अरे,क्या वह मनुष्य नहीं है; ? संज्ञी पचेन्द्रिय नहीं है। क्या वह धर्म-धारण नहीं कर सकते? यदि कोई उन्हें व्रत दिलवाए तो क्या वह उसका पालन नहीं कर सकते? क्या उनके आत्मा नहीं है? क्या वह वस्तु-स्वरूप का ज्ञान नहीं कर सकते? कोई उन्हें णमोकार मंत्र देवे और वह उसे रटने लगे तो क्या तुम उनका मुँह पकड लोगे? यह तो शास्त्रों में ही लिखा है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय को सम्यक्दर्शन प्राप्त हो सकता है। यदि उनकी आत्मा पवित्र हो जाये और सम्यक्त पैदा हो जाय तो क्या तुम उसे रोक लोगे? मुझसे यदि पूछा जाय तो मैं उनको धर्म सिखाने में नहीं हिचकूंगा। वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने में तो उनके शास्त्र बाँच दूंगा। हां, खान-पीन, रोटी-व्यवहार को कौन कहता है। यह मत करो, पर धर्म का स्वरूप बतलाने में क्यों आना-कानी करते हो ....

और फिर यदि कोई धर्म का स्वरूप समझना चाहे तो रोड़े अटकाते हो। कहते हो कि यह तो शूद्र है। क्या शूद्र धर्म का पालन नहीं कर सकते? हाँ, मन्दिर में प्रवेश मती कराओ। कौन कहता है? ईंट चूने का मकान तुम्हारा बनवाया हुआ है, मत आने दो। मूर्ति के दर्शन मत करने दो। यह तुम्हारे न्याय की बात है। पर उन्हें वस्तु का स्वरूप समझाने में कौनसी अड़चन है। फिर कहते हो कि बाबाजी तो अछूतोद्धार कर रहे हैं। अरे, इसमें अछूतों की क्या बात है, भइया। वह उतने ही धर्म के हकदार हैं, जितने तुम।'

पाठकगण, मेरी तो यह इच्छा थी कि इस पुस्तक को मैं सर्वांग सुन्दर बनाता पर बाबाजी के ही शब्दों में—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी होती नहीं कबहूँ काहे होत अधीरा रे॥

चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात वर्णी-संघ का वहां से विहार होगया और मेरी उस बलवती इच्छा पर वहीं तुषारापात पड़ गया।

आभार—पुस्तक को प्रकाश में लाने का सबसे अधिक श्रेय ब्र० चिदानन्दजी को है जिन्होंने पुस्तक को प्रकाशित करवाने के लिए मुझसे अधिक आग्रह किया। दूसरे, ब्र० मूल-शंकरजी का भी मैं आभार स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने समय समय पर मुझे उचित सुझाव दिए। इनके अतिरिक्त बाबाजी ने भी जिसको एक सरसरी निगाह से देखभर लिया है तो भी मेरी अल्पज्ञता के कारण इसमें त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। पाठकगण, यदि आपको इस पुस्तक

में जो सुन्दर बातें दिखाई दे वह पूज्य बाबाजी की ही समझिएगा, मेरी नहीं। और जहाँ कहीं अयथार्थ अथवा उपहास्पद बात आ जाय उसे मेरी मान लीजिएगा। सच पूछा जाय तो सिवा भूलों के मैंने कुछ नहीं किया। दो तीन पुस्तकें जैसे समयसारादि सामने रखकर इस पुस्तक को लिखने का दुःसाहस किया है। बाबाजी का ही मसाला जुटाकर रक्खा है सो भी अनाड़ीपन से। मैंने तो ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया जिससे पुस्तक लिखने का दावा कर सकूँ। फिर भी जो कुछ लिखा हुआ उपस्थित कर रहा हूँ, आशा है आप मेरी अल्पज्ञता तथा निर्लज्जता पर ही प्रशन्न होकर मुझे क्षमा प्रदान कर देंगे।

अन्त में यह कह देना भी आवश्यक है कि पुस्तक अत्यन्त शीघ्र प्रकाशित करवाई गई है परन्तु प्रेस की लापरवाही से यह इतने दिन तक अप्रकाशित ही रही। तथा इसमें प्रेस को और भी कुछ ऐसी भद्दी भूलें रह गई है जिनका निर्देश करना मैं समयाभाव से अनावश्यक समझकर पाठकों से उसे शुद्ध पढ़ने के लिए ही कहूँगा। यदि हो सका तो सभव है आगामी संस्करण मे ये सब अशुद्धियाँ दूर होजायँगी। पुस्तक को पढ़कर पाठकों को 'सुख की एक झलक' भी मिली तो मेरा प्रयत्न सफल हुआ, ऐसा समझा जायगा।

एक विद्यार्थी

कपूरचन्द वरैया बी० ए०

पूज्य १०५

क्षुल्लक गणेशप्रशादजी वर्णी

न्यायाचार्य के

" तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर"

कपूरचन्द बरैया, बी. ए
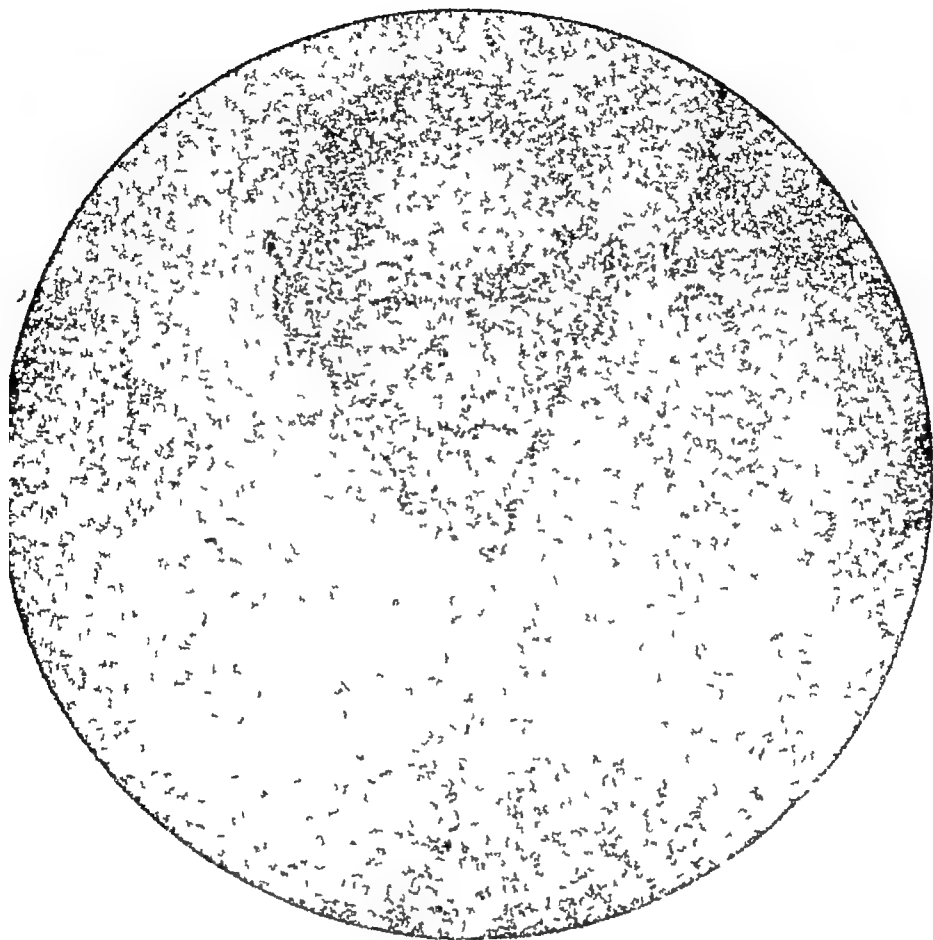
सुख की एक झलक—

❀ अध्यात्म वेत्ता ❀

पूज्य १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी

न्यायाचार्य.

श्री वीतरागाय नमः

सुखकी एक झलक.

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रवचनों का संकलन.

संसार में मनुष्यों की वर्तमान अवस्थाएं शुभ और अशुभ इन दो विकृत भावों में परिणमन कर रही हैं। कभी यह प्राणी शुभरूप प्रवर्तन करने लग जाता है और कभी अशुभ रूप। प्रायः यह लोगों को विदित ही है कि शुभ कार्य करने से पुण्य और अशुभ से पाप होता है। अशुभ के उदय से तो भोग सामग्री मिलती ही नहीं जिस से आकुलित रहता है और कदाचित पुण्योदय से प्राप्त भी हुई तो उसके भोगने में आकुलित रहता है। आकुलता दोनों में है। इसको दृष्टान्त पूर्वक यों समझना चाहिये कि एक शूद्र के दो लड़के हैं। एक ब्राह्मण के यहां पला तो वह कहता है कि 'अहम् ब्राह्मणोस्मि, मैं ब्राह्मण हूं' और दूसरा शूद्र के यहां पला तो वह अपने को शूद्र समझने लगा और इस प्रकार मदिरा मांस का सेवन करने लगा। तो देखो एक ब्राह्मण है और दूसरा

शूद्र। यदि दोनों की उत्पत्ति का विचार किया जाय तो वे शूद्र के ही हैं। इसी तरह शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों अशुद्ध हैं। शभोपयोग से स्वर्गादिक और अशुभोपयोग से नरकादिक प्राप्त होता है। परन्तु हैं दोनों संसार के कारण। एक स्वर्ण की बेड़ीहै तो दूसरी लोहे की बेड़ी। दोनों हैं बेडी ही। परन्तु इन दोनों से भिन्न एक तीसरी वस्तु और है और वह है शुद्धो पयोग जिसके अन्दर न तो शुभ और अशुभ का विकल्प है और न किसी प्रकार की आकुलता। वह तो एक निर्विकल्प भाव हैं। सम्यकदृष्टी यद्यपि शुभोपयोग करता है पूजा दानादि में प्रवृति करता है परन्तु अन्तरंग से वह इनकी भी चाहना नहीं करता। जैसे किसी मनुष्य को १०००) रु० का दण्ड हुआ परन्तु उसने अपनीं चतुराई से १००) रु० घूँस देकर ९००रु० बचा लिए। उसे अपार खुशी हुई और खुशी होने की बात ही थी पर पूछो तो अंतरंग से यही चाहता था कि ये १००) रु० भी नहीं देने पड़ते तो अच्छा था। उसी प्रकार सम्यकदृष्टी समझता है कि यह मैं अशुभोपयोग से बचा तो अच्छा हुआ पर जो शुभोपयोग रूप क्रिया कर रहा हूँ यदि वह भी नहीं करना पड़ता तो ही अच्छा था। मुझसे यदि पूछा जाय तो सम्यकदृष्टी को करना पड़ता है पर करना नहीं चाहता। यहां तक कि वह भगवान से भी नेह

अंतरंग से नहीं करता। स्नेह को ही बंधन का कारण मानता है। यही श्री समयसार में कहा है:-

लोकः कर्म ततोस्तु सोस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म वत्।
तानि--अस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु वत्।
रागादिन्युपयोग भूमिमनयद्धाज्ञानं भवेत् केवलम्: बन्ध
नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।

नेह तो भगवान से भी अच्छा नहीं। जहाँ चिक्कण होगी वहीं तो धूल कण इत्यादि जमेंगे। देखो स्नेह से ही तिल्ली जिसमें तेल रहता है, घानी में पेला जाता है, बालू को कोई भी नहीं पेलता। कृतांतवक्र जो महाराज रामचन्द्र के सेनापति थे जब वह संसार से विरक्त हुए तो राम कहने लगे देखो तुम बड़े सुकुमार हो। आज तक तुमने किसी का तिरस्कार नहीं सहा। यह दिगम्बरी दीक्षा कैसे सहन करोगे उसी समय कृतांतवक्र कहते हैं कि हे। राजा राम तुमने कहा सो ठीक है। मुझे तो तुमसे बड़ा जबरदस्त स्नेह था यही मेरे लिए सब से बड़ी परिषहा थी। सो जब मैंने तुमसे स्नेह तोड़ दिया तो यह दिगम्बरी दीक्षा कौन सी बड़ी बात है। तो स्नेह से ही मनुष्य बन्धन में पड़ता है। परमार्थ दृष्टि से तो भगवान से भी स्नेह बंधनका कारण है। मनुष्य नाना प्रकार की कामनाएँ भगवान से याचना करता है यह कितनी बड़ी भूल है। जो भगवान, उपेक्षक,

रागद्वेष से रहित स्वात्मा मे मगन है, उनसे यदि संसार संबंधी भोग चाहना तो मैं कहूँगा कि उसने भगवान के स्वरूप को ही नहीं पिछाना। जो अर्हत देव वीतराग हैं उनसे राग की इच्छा करना तो उसने सच्चे लगन से भक्ति ही नहीं की। वह परमात्मा जो मोक्ष के दाता है उनसे स्वार्गादिक विभूति की इच्छा करना यह बात तो भइया हमारे समझ में नही आती। ऐसा हुआ जैसे करोड़-पति से १००) रु० की चाह करना। धनंजय ने भगवान की नाना प्रकार की स्तुति की। अन्त में यही कहा कि प्रभो मैं आपसे कुछ नहीं चाहता। निम्न लिखित श्लोक मे धनंजय कवि ने कैसा गंभीर भाव भर दिया हैः—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद वरंन याचे त्वमुपेक्षकोसि
छाया तरू संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः

मै तो यही कहूँगा कि देवाऽधिदेव अरहंत देव तो संसार संबंधी किसी भी प्रकार की इच्छा करना ऐसा ही है जैसे वृक्ष के तले बैठकर वृक्ष से छाया की याचना करना। भगवान के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करो। वह शांति मुद्रा, संसार से विरक्त हितैषी परम वीतरागी मोक्ष लक्ष्मी के भर्ता है। उनसे किसी भी प्रकार की कामना मत करो। वह तो यह बतलाते हैं कि देखो जैसे हमनें दीक्षा धारण करके मुक्ति प्राप्ति की वैसे ही तुम भी दीक्षा धारण कर मुक्ति के पात्र बनो।

लोक में देखा दीपक से दीपक जोया जाता है। बड़े महर्षियों की उक्ति है पहले तो यह जीव मोह के मंद उदय में 'दासोऽहं' रूप से उपासना करता है, पश्चात जब कुछ अभ्यास की प्रबलता से मोह कृश होजाता है, तब 'सोहं, सोहं' रूप से उपासना करने लग जाता है। अन्त में जब उपासना करते करते शुद्ध ध्यान की ओर लक्ष्य देता है तब यह सर्व उपद्रवों से पार हो स्वयं परमात्मा हो जाता है। अतः भक्ति का तो सच्चा महत्व यहीं है कि आत्मा को परमात्मा बनाओ।

मनुष्य का मोह बडा प्रबल होता है। यह सारा संसार मोह का ठाट है। यदि मोह न होय तो आया करो आश्रव वह कभी भी बंधन को प्राप्त नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान जब १३ वें गुणस्थान संयोगकेवली में चारों घातियां कर्मों का नाश कर चुकते हैं तब वहां योग रह जाते हैं। योगों से आश्रव आते हैं परन्तु मोहनीय कर्म का अभाव होने से कभी भी बंधते नहीं क्योंकि आश्रवों को आश्रय देने वाला जो मोह कर्म था उसका वह भगवान सर्वथा नाश कर चुके। अरे, यदि गारा नहीं तो ईटों को चुनते चले जावो कभी भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होंगे। इसको दृष्टान्तपूर्वक यों समझना चाहिए कि जैसे कीचड़ मिश्रित पानी है,

उसमें कतक फल डाल दिया तो गंदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल होगया। उसे भाजनान्तर जो फटिकमणि का वर्तन उसमें उस जल को रख दिया और उसमें जो कम्पन होगा अर्थात् लहरें उठेंगी वह शुद्ध ही तो होंगी सो योग हुआ करो। योग-शक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोह की रागादि कलुपता चली जाय तब वह स्वच्छता में उपद्रव नहीं कर सकती, और उस बन्ध को, जिसमें स्थिति और अनुभाग होता है नहीं कर सकतो, इसलिए अबंध हैं। और वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही हैं कि जिस समय आत्मा के अन्तरंग से मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, तो और शेष अघातियां कर्म जली जेवरीवत रह जाते हैं। तो इससे सिद्ध हुआ कि इन सब कर्मों में जबरदस्त कर्म मोहनीय ही है। यही कर्म मनुष्य को नाना प्रकार के नाच नचाता है। एक कोरी था। वह मदिरा में भुत्त हुआ कहीं चला जा रहा था। उधर से हाथी पर बैठा हुआ राजा आ रहा था। कोरी ने कहा 'अबे, हाथी बेचता है।' राजा बड़ा क्रोधित हुआ और मंत्री से झल्लाकर कहा 'यह क्या बकता है ?' मंत्री तुरंत समझ गया और विनय पूर्वक बोला महाराज! यह नहीं बोलता। इस समय मदिरा बोलती है, और जैसे तैसे

समझा बुझाकर राजा को महलों में ले गया। दूसरे दिन सभा में कोरी को बुलाकर राजा ने पूछा क्यों ? हाथी लेता है। उसने कहा अन्नदाता! मैंने कब कहा था ? आप राजा हो और मैं एक गरीब आदमी हूँ। गुजर बसर बड़ी मुश्किल से कर पाता हूं। मैं क्या आपका हाथी खरीद सकता हूँ ? आप न्याय प्रिय हो, मेरा न्याय करो। राजा ने मंत्री की ओर देखा। मंत्री बोला 'महाराज! मैंने तो पहिले ही कहा था कि यह नहीं बोलता इस समय मदिरा बोलती है।' राजा बड़ा आश्चर्य चकित हुआ। वैसे ही हम भी मोह रूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए झूम रहे हैं। वह अच्छा है वह जघन्य है, अमुक स्थान इसके उपयोगी है, अमुक अनुपयोगी है कुटुम्ब बाधक है, साधुवर्ग साधक है—यह सर्व मोहोदय की कल्लोल-माला है। मोहोदय में जो कल्पनाएं न हो, थोड़े हैं। देखो जब स्त्री पुरूष का ब्याह होता है तब वह पुरूष स्त्री से कहता है कि मैं तुम्हारा जन्म पर्यन्त निर्वाह करूंगा और वह स्त्री भी पुरूष से कहती है कि मैं भी तुम्हारी जन्म-पर्यन्त परिचर्या करूंगी, निर्वाह करूंगी। इस तरह जब ब्याह सम्पन्न हो जाता है और उनमें से यदि किसी को भी वैराग्य हो आता है तो घर छोड़ कर विरक्त हो जाते हैं।

स्त्री विरक्त हुई तो आर्यिका हुई और पुरुष को विरक्तता हुई तो मुनि हो जाता है। तो अब बतलाइए कि वह ब्याह के समय जो एक दूसरे से वचनबद्ध हुए थे, उसका निवाह कहां रहा ? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब मोहनीय कर्म का प्रबल उदय था। जब तक वह कर्मोदय है तभी तक सारा परिवार और संसार है। जहां इस कर्म का शमन हुआ तो वही परिवार फिर बुरा लगने लगता है। जब सीताजी को लोकापवाद हुआ और राम ने सीता से अग्नि-परीक्षा देने को कहा। अपने पति की आज्ञा शिरोधार्य कर जब सीता अग्निकुंड से निष्कलंक हो देवों द्वारा अर्चित होती है तब सीता को संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्तता आजाती है। उस समय राम आकर कहते है कि हे सीता ! तू निरपराध है, धन्य है। देवो द्वारा पूजनीक है। आज मेरे हृदय के आंसू नेत्रो में छलक आए है। प्रासादों को चलकर पवित्र कर। अथवा अपने लक्ष्मण की ओर दृष्टिपात कर। अथवा हनुमान पर करुणा कर जिसने संकट के समय सहायता पहुँचाई। अथवा अपने पुत्र लवांकुश की ओर तो देख। तब सीता कहती है हे राम ! आज यह कैसी पागलपने की बातें कर रहे हो ? तुम तो स्वयं ज्ञानी हो। संसार से तो विरक्त होते नहीं और मुझे विरक्त होने में

बाधा करते हो। तुम्हे शरम नहीं आती मोह। की विडंबना का तो जरा अवलोकन कीजिए। एक दिन वह था जब सीता रावण के यहां राम के दर्शनार्थ खाना पीना विसर्जन कर देती थी। आंसुओं से सदा मुंह धोए रहती थी। आज वही सीता राम के सम्मुख हो ऐसे वचन कहे कि 'तुम्हे शरम नहीं आती' कैसी विचित्र मोह माया है। राम जैसे महापुरूष भी इसके फंदे से न बच सके। जब सीता हरी गई तो पुरूषोत्तम रामचन्द्रजी, सी शीतल मूर्ति उसके विरह में कितने व्याकुल रहे जो वृक्षों से, पत्तों से पूछते हैं कि 'अरे तुमने कहीं हमारी सीता देखी है' यही नहीं बल्कि वही पुरूषोत्तम रामचन्द्रजी भी लक्ष्मण के मृत शरीर को ६ मास लेकर सामान्य मनुष्यों की तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोह का जादू नहीं है? वाहरे मोह राजा! तूने सचमुच तीनों जगत को अपने वशवर्ती करलिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। जैसे भगवान की लीला अपार है तो तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी त्रिलोकों में ऐसा स्थान नहीं जहां तूने अपनी विजय-पताका न फहराई हो। जब सीता महारानी और राम जैसे महापुरूषों की यह गति हुई तो और रंक पुरूषों की क्या कथा? धन्य है तू और तेरी लीला को।

अब कहते हैं कि सम्यकदृष्टी कौन है। जिसको हेयोपादेय का ज्ञान होगया वही सम्यकदृष्टी है। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि देवदत्त और यग्यदत्त दो भाई थे। उनके दो लड़के थे। एक देवदत्तका और दूसरे यग्यदत्त का। एक दिन देवदत्त दो आम लाया। पहिला आम दूसरे की अपेक्षा कुछ अच्छा था। विशेष अन्तर नहीं था। उसने अच्छे आम को दाहिने हाथ में लिया, कुछ न्यूनता लिए दूसरे आम को बाँए हाथ में और दोनों लड़कों को अपने पास बुलाया। जो उसका लड़का था वह बाँई ओर बैठा और दूसरा दाहिनी ओर। अब देखो, उसको सीधे हाथ करके दोनों आमों को सीधे दे देना चाहिए था। ऐसा न करके उसने दाहिने हाथ को बाऐं व बांऐं हाथ को दाहिने कर वे दोनों आम उन दोनों लड़कों को दे दिए। उसका भाई दूर से खड़ा हुआ यह कौतुक देख रहा था। वह तुरन्त उसी समय आकर बोला 'भाई, ! मुझे तो अलग करदो, वह बोला' क्यों, किसलिए विलग होना चाहते हो ? उसने कहा 'तुम जानते हो या मैं जानता हूँ, वैसे ही सम्यकदृष्टी को आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थों को हेय जानने लगता है। पर पदार्थों से उसकी मूर्छा

बिलकुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादि में प्रवर्तन करता है, परन्तु वेदना का इलाज समझ कर। क्या करे, जो पूर्व बद्ध कर्म हैं उसको तो भोगने ही पड़ता है। हां, नवीन कर्म का बंध उस चाल का उसके नहीं बंधता। हमको चाहिए कि हमने अज्ञानावस्था में जो कर्म उपार्जन किए हैं, उनको हटाने का प्रयत्न न करें बल्कि आगामी नूतन कर्म का बंध न होने दें। अरे, जन्मान्तर में जो कर्मोपार्जन किए हैं उनको तो भोगने ही पड़ेंगे। चाहे रो करके भोगो चाहे हँस करके। फल तो भोगना ही पड़ेगा, यह निश्चित है। यदि 'हाय हाय' करके भइया रोग की शान्ति हो जाय तो उसे भी करलो। परन्तु ऐसा नहीं होता। हाय हाय की जगह भगवान भगवान कहे और उस वेदना को शान्ति से सहन करले और ऐसा प्रयत्न करे जिससे आगे वैसा बंध न होय। हाय हाय करके होगा क्या? हम आप से पूछते हैं और उलटा कर्म का बंध होगा। सो ऐसा हुआ जैसे किसी मनुष्य को ५००) रु० मय व्याज के देना था सो तो दे दिया, ६०० रु० और कर्जा सिर पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया। तो हमको पिछले कर्मों की चिन्ता न करनी चाहिए बल्कि आगामी कर्म का संवर करें। अरे, जिसको शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना है वह नवीन शत्रुओं

का आक्रमण रोक देवे और जो शत्रु गढ में है वह तो चाहें जब जीते जा सकते हैं। इसकी चिन्ता न करे। चिन्ता करे तो आगमी नवीन बंध की जिससे फिर बंधन में न पड़ना पड़े और जो पिछले कर्म है वह तो रस देकर खिरेंगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। आगामी कर्म-बंध हुआ नहीं, पिछले कर्म रस देकर खिए गए। आगामी कर्ज लिया नहीं पिछला कर्ज अदा किया। चलो छुट्टी पाई। प्रत्याख्थान का मतलब क्या है? आगे आने वाले कर्म का संवर करे यही तो प्रत्याख्यान है। और क्या तुम्हीं बताओ! तो सम्यकदृष्टी पिछले कर्मों की चिन्ता नहीं करता वल्कि आगामी जो कर्म बंधनें वाले है, उनका संवर करता है जिससे उसके ऊं चाल का बंध नहीं होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदना के लाने कडवी औषिध का सेवन करता है। तब विचारे, रोगी को कडवी औषध से प्रेम है या रोग निवृति से। ठीक यही हाल सम्यकदृष्टी का चारित्र मोह के उदय से होता है। वह अशुभोपयोग को तोहेय समझता ही है और जो शुभोपयोग पूजा दानादि में प्रवृति करता है उसको भी वह मोक्ष-मार्ग में बाधक जानता है। वह विषयादि में भी प्रवर्तन करता है पर

अन्तरंग से यही चाहता है कि कब इस उपद्रव से छुटी मिले ? जेलखाने में जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है, कैदी को सड़ाक सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो बोझा उठाओ' आदि। तब वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है परन्तु बिचारो अन्तरंग से यही चाहता है कि हे भगवान ! कब इस जेलखाने से निकल जाऊँ। पर क्या करे, पर वश दुःख भोगना पड़ता है। एवं यही हाल सम्यक्दृष्टी का होता है। वह चारित्र मोह की जोरावरी से अशक्य हुआ ग्रहस्थी में अवश्य रहता है पर 'जैसे जल में कमल दल जलको परसो नाहिं' लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग में ही रहता है। वह बाह्य में वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टी परन्तु दोनों के अन्तरंग अभिप्राय प्रकाश और तम के समान सर्वथा भिन्न हैं। मिथ्यादृष्टी भी वही भोग भोगता है और सम्यक्ती भी। बाह्य में देखो तो दोनों की क्रिया समान है। पर मिथ्याती राग में मग्न हो डूब जाता है और सम्यक्ती उसी राग को हेय जानता है।

पन्डित मूरख दो जने भोगत भोग समान।
पन्डित समवृति ममत बिन मूरख हरष अमान ॥

यही कारण है कि मिथ्यादृष्टी के भोग बंधन के कारण है और सम्यक्ती के निर्जरा के लाने। क्यों, वही ज्ञान और वैराग्य की प्रभुताके कारण।

सम्यक्ती के भोग निर्जरा हेत है।
मिथ्याती के वही बंध फल देत है॥

कोई पूछे सम्यक्ती को जो वह भोग भोगता है क्या उसे बंध नहीं होता ? इसका उत्तर करते हैं कि बंध यों तो दशम गुणस्थान तक बतलाया है। पर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय जो सम्यक्त के प्रति पक्षी है उसका अभाव होने से अनंत संसार की अपेक्षा से वह अबंध ही है। सम्यकदृष्टी का ज्ञान सम्यकज्ञान हो जाता है। वह पदार्थों के स्वरूपों को यथावद् जाननें लग जाता है। 'सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप में परिणमन कर रहे हैं। कोई पदार्थ किसी पदार्थ के आधीन नहीं हैं' इसका उसे दृढ श्रद्धान हो जाता है। इसलिए वह किसी पदार्थ से राग द्वेषादि नहीं करता। उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थ में जाती अवश्य हैं पर रत नहीं होती। यद्यपि औदयिक भावों का होना दुर्निवार है परन्तु जब उनके होते अन्तरंग की स्निग्धता की सहायता न मिले तब तक वह निर्विष सर्प के समान स्वकार्य करने में असमर्थ है, ऐसी अनुपम एवं अलौकिक स्वात्मीक सुख का उसे अनायासही अनुभव होने लगता है। यही कारण है कि सम्यक्ती बाह्य में मिथ्यादृष्टी जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धा में राग द्वेषादि के स्वामित्व का अभाव होनें से अबंध हैं, और वही मिथ्यादृष्टी राग द्वेषादि के स्वामित्व

के सद्भाव से निरन्तर बन्धता ही रहता है। तो भइया, यह सब अन्तरंग के अभिप्राय की बात है। अभिप्राय निर्मल होने चाहिए। कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्राय को देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है? यदि वह अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात नहीं करता तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। सब से पहिले अपने अभिप्राय को निर्मल बनाए। अभिप्रायों के निर्मल बनाने में ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे। जिन जीवों के निरन्तर निर्मल परिणाम रहते हैं वे नियम से सद्गति के पात्र होते हैं। हां तो सम्यकदृष्टि के परिणाम निरंतर निर्मल होते जाते है। वह कभी अन्याय में परिवर्तन नहीं करता। अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त ऐसी भावना है, वह काहे को अन्याय करेगा। अरे, जिसने राग को हेय जानलिया वह राग के लाने अन्याय करेगा। जो विषयों को त्यागने का इच्छुक है वह क्या विषयों के लाने दूसरों की गांठ काटेगा। कदापि नहीं। वह गृहस्थी में उदासीनता से रहता हुआ जब चारित्र मोह गल जाता है तब तुरंत ही व्रतों को धारण करने लगता है। भरतजी घर ही में वैरागी थे। उनको अन्तरमुहूर्त में ही केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। इसका कारण यही कि इतनी विभूति होते हुए भी वह अलिप्त थे। किसी पदार्थों में आशक्ति

बुद्धि नहीं थी। पर देखो भगवान को वह यश प्राप्त नहीं। क्या वह वैरागी नहीं थे? अस्तु सम्यक्त्व की महिमा ही विलक्षण है। उसकी परिणति भइया वही जाने, अज्ञानियों को उसका भेद मालूम नहीं होता।

एक मनुष्य था। उसका यह नियम था कि जो कोई उसके पास चीज लाए, वह ले लिया करता था। एक दिन एक मनुष्य दरिद्रता लाया। उसने नियमानुसार वह ले ली। जब दरिद्रता महारानी का पदार्पण हुआ तो सब धन स्वाभाविक ही जाने का ठहरा। यहां तक कि क्षमा, तप, यम, संयम सभी गुण जाने लगे। जब सत्य जाने लगा तो उसने पकड़ लिया और एक तमाचा लगाया। वह कहने लगा तू कहां जाता है। सत्य बोला 'जहां सब जाते हैं वहां मैं भी जाता हूं।' उसने कहा 'सब चले जाएं तो चले जाएं' पर मैं तो तुझे नहीं जाने देता। तू क्यों जाता है? उसे पकड़ कर रख लिया। तब सत्य के आ जाने से सभी गुण अपने आप ही आगए। तो वही शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिए। बाह्य नानाप्रकार के आडम्बर किया करो, कुछ नहीं होता। गधी के सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनी के एक बच्चा होता हुआ भी निर्भर प्रकृति

निर्भर सोंती रहती है।

एक मनुष्य था। वह हीरों की खान में काम करता था। वहां ऐसा होता कि जो खान में काम करता और उसके द्वारा जो हीरा प्राप्त होता वह सरकार ले लिया करती थी और फिर वह सरकार कुछ न कुछ उसे दे दिया करती थी। वह आदमी था तो लखपती पर दैवयोग से गरीब होगया था। एक दिन खदान में काम करते करते कुछ नहीं मिला एक छोटी सिला मिल गई। वह उसे लेकर घर आया। उसकी स्त्री उस पर मसाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जौहरी को उसने निमंत्रण दिया। वह आया और शिला को देखकर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो। वह आदमी अपनी स्त्री से पूछने गया। स्त्री बोली अरे बेचकर क्या करोगे? मसाला पीसने के काम आ जाती है। वह सौ रुपये ही देता है यह लो, मुझ से १००० रु० के गहने। इसे बेच लो। वह आदमी जौहरी के पास आकर बोला स्त्री नहीं बेचने देती। मैं क्या करूँ। तब जौहरी ने कहा यह लो २००० रु० अच्छा ३००० रु० ले लो। वह समझ गया और उसने नहीं दी। उसने उसी समय सिलावट को बुलवाकर उसके

दो टुकड़े करवाए। टुकड़े करवातेही हीरे निकल पड़े। माला माल हो गया। तो देखो वह आत्मा कर्मों के के आवरण से ढकी पड़ी है। वह हीरे की ज्योति के समान है। जब वह निरावरण हो जाती है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करती है। हीरे की ज्योति भी उसके सामने कुछ नहीं। उस आत्मा का केवल ज्ञायक स्वभाव ही है। सम्यकदृष्टी उसी ज्ञायक स्वभाव को अपना कर कर्मों के काट को कटाक से उड़ाकर परात्मस्थिति तक क्रमशः पहुंच जाता है और सुखार्णव में डूबा हुवा भी अघाता नहीं।

अब कहते हैं कि एक टंकोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है। इसके बिना और सब अपद हैं। वह शुद्ध आत्मा कैसी है? ज्ञानमय एवं परमानन्द स्वरूप है। ज्ञान के द्वारा ही संसार का व्यवहार होता है। ज्ञान न हो तो देखलो कुछ नहीं। यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है--इसकी व्यवस्था कराने वाला कौन? एक ज्ञान ही तो है।

वास्तव में अपना स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। केवल देखना एवं जानना मात्र है। यदि देखने मात्र ही से पाप होता तो मैं कहूंगा कि परमात्मा सब से बड़ा है क्योंकि

वह तो चराचर वस्तुओं को युगपद देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नहीं, पाप तो अन्तरंग का विकार है। यदि स्त्री के रूप को देख लिया तो कोई हर्ज नहीं पर उसको देखकर राग करना यही पाप है। ऐ भइया! जो यह पर्दे की प्रथा चली इसका मूल कारण यही कि लोगों के हृदय में विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे लम्बे घूंघटों में क्या रखा है? बताओ। आत्मा का स्वरूप ही ज्ञाता-दृष्टा है। अब बताओ बाबाजी, इन नेत्र इन्द्रियों से देखें नहीं तो क्या फोड़ लें? नेत्र इन्द्रियों का काम ही पदार्थों को दिखाना है। दर्शक बनकर दृष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नहीं: किन्तु यदि उनमें मनोनीत कल्पना करना, राग करना तभी फँसना है। राग से ही बंध है। पमात्मा का नाम जपे जाओ ॐ नमः वीतर-गाय; ॐ नमः वीतरागाय; ॐ नमः वीतरागाय। क्या होता है? यदि जपने ही से उद्धार हो जाय तो क्यों नहीं होता? तो कोरा जाप मात्र जपने से उद्धार नहीं होता। अरे, परमात्मा ने जो कार्य किए—राग को छोड़ा—संसार को त्यागा, तुम भी वैसा ही करो। सीधी साधी सी तो बात है। दो पहलवान हैं। एक को तेल का मर्दन है दूसरे को नहीं। जब वे दोनों अखाड़े में

लड़े तो एक को मिट्टी चिपक गई, दूसरे को नहीं। अतः राग की चिकनाहट ही बंध कराने वाली है। देखो दो परमाणु मिले एक स्कंध हो गया। अकेला परमाणु कभी नहीं बँधता। तो आत्मा का ज्ञान गुण बंध का कारण नहीं। बंध का कारण उसमें रागादिक की चिकनाहट है।

संसार के सब पदार्थ जुदे जुदे हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ से बंधता नहीं है। इस शरीर को ही देखो! कितने ही स्कंधों का बना है? जब स्कंध जुदे जुदे परमाणु मात्र रह जाय तो सब स्वतंत्र है, अनादिनिधन है। केवल अपने मानने में ही भूल पड़ी हुई है। उस भूल को मिटादो, चलो छुट्टी पाई। और क्या धरा है? ज्ञान का काम तो केवल पदार्थों को जताना मात्र है। यदि उस ज्ञान में इष्टानिष्ट कल्पना करो तो बताओ किसका दोष है। शरीर को आत्मा मान लो किसका दोष है? अच्छा शरीर कभी आत्मा होता नहीं। जैसे दूर से सीप पड़ी है और तुम चांदी मानलो तो क्या सीप चांदी हो जायगी? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नहीं। अपने विकल्प किया करो। क्या होता है? पदार्थ तो जैसे का तैसा ही है। केवल मानने में ही

गलती है कि 'इदम मम्' यह मेरी है। उस भूल को मिटादो। शरीर को शरीर और आत्मा को आत्मा जानो। यही तो भेद विज्ञान है। और क्या है, बताओ।

अतः उस ज्ञायक स्वभाव का वेदन करो। सोना है, जड़ है वह अपने स्वरूप को नहीं जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चैतन्य धातु का पिंड है, वह उसको जानता है। अब उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मा में जैसे जैसे विशेष ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है या बाधक। देखिए जैसे सूर्य मेघ-पटलों से आच्छादित था। मेघ-पटल जैसे जैसे दूर हुए वैसे वैसे उसकी ज्योति प्रगट होती गई। अब बतलाओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है या बाधक। दरिद्री के पास पांच रुपये आए वह उसके लिए साधक है या बाधक। हम आपसे पूछते हैं। अरे, साधक ही है। वैसे ही इस आत्मा के जैसे जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादि विशेष प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक ही है। अतः ज्ञानार्जन का निरंतर प्रयास करता रहे।

मनुष्य को पदार्थों के हटाने का प्रयत्न न करना चाहिए बल्कि उसमें राग द्वेषादि के जो विकल्प उठते है, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे। पदार्थों के हटाने

से होगा क्या ? हम आपसे पूछते हैं। मान लिया, स्त्री खराब होती है। हटाओ, उसे कब तक हटाओगे ? नहीं हटी तो बेचैनी बढ़ गई। अतः स्त्री को मत हटाओ उसके प्रति जो तुम्हारी राग बुद्धि लगी है उसे हटाने का प्रयत्न करो। यदि राग बुद्धि हट गई तो फिर स्त्री को हटाने में कोई बड़ी बात नहीं। पदार्थ किसी का बुरा भला नहीं करते। बुरा भला केवल हमारे अंतरंग परिणामों पर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनुकूल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसी ने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बड़ा अच्छा है और कदाचित् नहीं माना तो बड़ा बुरा है। तत्वदृष्टि से विचारो तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न भला। वह तो केवल निमित्त मात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नहीं। यह तो उस मनुष्य के आत्मा की दुर्बलता है जो अच्छे बुरे की कल्पना करता है। कोई कहता है कि स्त्री मुझे नहीं छोड़ती, पुत्र मुझे नहीं छोड़ता, क्या करूं धन नहीं छोड़ने देता। अरे मूर्ख, यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदय में जो राग है वह नहीं छोड़ने देता। अपना दोषारोपण दूसरों पर करता है। यदि इस राग को अपने हृदय से निकाल दे

तो देखें कौन तुझे नहीं छोड़ने देता। कौन तुझे विरक्त होने से रोकता है। अपने दोष को नहीं देखता। "मै रोगी हूँ" ऐसा ऐसा अनुभव नहीं करता। यदि ऐसा ही हो जाय तो संसार से पार होने में क्या देर लगे? यह पूर्व ही कह चुके हैं कि पदार्थ अपने अपने स्वरूप में हैं। कोई पदार्थ किसी पदार्थ के आधीन नहीं केवल मोही जीव ही सशंकित हुआ उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना कर अपने स्वरूप से च्युत हो निरंतर बँधता रहता है। अतः हमारी समझ में तो शान्ति का वैभव रागादि को के अभाव में ही है।

अब बतलाते हैं कि ज्ञान बिलकुल स्वच्छ दर्पणवद् है। जैसे दर्पण में स्वभाव से ही घटपटादि प्रकाशित होते हैं वैसे ही ज्ञान में सहज ही सम्पूर्ण ज्ञेय झलकते हैं। अब दर्पण में घटपटादि प्रविम्बित होते अवश्य हैं, तो क्या घटपटादि उसमें प्रवेश कर जाते हैं? नहीं, घटपटादि अपनी जगह पर है, दर्पण अपने स्वरूप में है। केवल दर्पण का परिणमन उनके आकार हो गया है। तुमने दर्पण में अपना मुंह देखा तो क्या तुम दर्पण में चले गए? यदि दर्पण में चले गए तो यहां सूरत पै जो कालिया लगी है, उसको वहां दर्पण

में क्यों नहीं मिटाते ? अपनी सूरत पे ही कालिमा को मिटाते हो। इससे सिद्ध हुआ कि दर्पण अपनी जगह पर है, हम अपनी जगह पर हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ में प्रवेश नहीं करता। यह सिद्धांत है। ज्ञान का सहज स्वभाव ही स्वपर प्रकाशक है। जैसे दीपक अपने को तथा पर को भी प्रकाश करता है उसी प्रकार ज्ञान अपने को तथा पर को दोनों को जानता है। स्वभाव में तर्क नहीं चला करता। ज्ञान आत्मा का एक विशेष गुण है जैसे अग्नि और उष्ण दोनों का अभेदपना है। एक आम है। उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ही है। कहा भी है 'स्पर्श रस गंध वर्णवन्ता-पुग्दलाः' इन चारों का समुदाय ही तो आम है। अब किसी महान वैज्ञानिक को ले आइए और उससे कहो कि हमें इसमें से रूप को निकाल दे, रस को निकाल दे तो वह नहीं निकाल सकता। परन्तु ज्ञान में वह शक्ति है कि इन्द्रियों द्वारा पृथकीकरण करके रूप को जाने, रस को जाने और स्पर्श को जाने। ज्ञान में अचिन्त्य शक्ति है। और वास्तव में देखो तो ज्ञान के सिवाय कुछ है भी नहीं। मिश्री मीठी होती है, यह किसने जाना ? केवल ज्ञान ने। ज्ञान ने पदार्थ को बतला दिया कि मिश्री मीठी होती है। अब देखो ज्ञान

ही का तो परिणमन हुआ। पर हम लोग ज्ञान को तो देखते नहीं और पर पदार्थों में सुख मानते हैं। ज्ञेय-मिश्रित ज्ञान का अनुभवन करते हैं। कोई कहता है कि रूखी रोटी खाने में अच्छी नहीं लगती। कैसे अच्छी लगे? अरे मूरख, अनादि काल से तो मिश्रित पदार्थों का स्वाद लेता आ रहा है। अच्छी लगे तो कैसे लगे? दाल में नमक भी है, मिर्ची भी है, खटाई भी है और घी भी डला हुआ है। पर मूरख प्राणी तीनों का मिश्रित स्वाद ले रहा है और कहता है बड़ी बढ़िया बनी है। अब देखो नमक अपना स्वाद बतला रहा है, मिर्चीं अपना स्वाद बतला रही हैं और इसी प्रकार घी अपना अलग स्वाद बतला रहा है और जिसके द्वारा यह जान रहा है उस ज्ञान का अनुभवन नहीं करता। ज्ञेयानुभूति में ही सुख मानता है। यही अनादि काल से अज्ञान की भूल पड़ी है। ज्ञेयानुभूति में ही मगन हो रहा है, ज्ञानानुभूति का कुछ भी पता नहीं। पर सम्यक्‌ज्ञानी ज्ञान और ज्ञेय में पृथक्करण करके ज्ञान को जो स्वाश्रित है उसे अपनी समझ कर ज्ञेय जो पराश्रित है उसका त्यागन कर देता है। जैसे देखो

ही ज्ञेय ज्ञान में कुछ घुस नहीं जाता। ऊपर ही ऊपर लौटता रहता है पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। पर सम्यक्ज्ञानी अपनी भेद-ज्ञान की शक्ति से निरन्तर शुद्ध ज्ञान का आस्वादन ही करता रहता है। वह ज्ञान किसी भी पर पदार्थ का लेश मात्र भी प्रवेश नहीं चाहता। ज्ञानी जानता है मेरी आत्मा में ज्ञान लबालब भरा है। इस प्रकार वह ज्ञान में ही उपादेय बुद्धि रखता है। पर बाबाजी स्वाश्रित और पराश्रित ज्ञान में बड़ा अन्तर है। हमारा ज्ञान कौन काम का। अभी आँखें बन्द करलो दिखाओ क्या दिखाता है? अच्छा, आँखें भी खुली हैं पर सूर्य अस्त हो जाय। अन्धकार में क्या दिखाए, बताओ।

अतः इन्द्रिय जन्य ज्ञान किसी काम का नहीं। ज्ञान तो स्वाश्रित केवल ज्ञान है जिसकी अखण्ड ज्योति चिरन्तन प्रज्वलित होती रहती है। हम ऐसी नित्यानन्दमयी ज्ञानात्मा को विस्मरण कर पर पदार्थों के विषयों में सुख मानते हैं। उन्हीं सुख की प्राप्ति में सारी शक्ति लगा देते हैं। पर उनमें सुख है कहां? पर पदार्थ के आश्रय जितने भी सुख हैं सब आकुलतामय हैं। मन में भोगों की आकुलता हुई तो विषयों में

प्रवर्तन करने लग गए। रूप को देखने की आकुलता मची तो सिनेमा चले गए। कान से रेडियो के गाने सुन लिए। रस से व्यञ्जनादि के स्वाद ले लिए। यह रूप रस गंध और स्पर्श के सिवाय और विषय है क्या चीज? हम पुनः पुनः वही स्वाद ले लिया करते हैं जैसे कोल्हू का बैल जहां देखो तो वही। और देखो इन इन्द्रिय जन्य विषयों का कितनी देर का सुख है। ओस की बूंद के समान। अतः इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं। पर होते हैं बाबाजी बड़े प्रबल। इनका जीतना कोई सामान्य बात नहीं है।

एक मनुष्य था भइया। उसने एक स्थान पे यह चरण लिखाः—

'बलवान इन्द्रियग्राम विद्वांसमप्याकर्षति'

अर्थात् इन्द्रियों के विषय बड़े बलवान होते हैं, विद्वानों तक को आकर्षित कर लेते हैं। उसी स्थान पर एक कोई साधु आया और चरण को पढ़कर दूसरा चरण लिख दिया कि ज्ञानी को इन्द्रिय विषय आकर्षित नहीं करते। जब उस मनुष्य ने पढ़ा तो उसने उस साधु की परीक्षा करनी चाही। एक बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और बहुत खूबसूरत स्त्री-वेश बनाया—नहीं नैन

मटकाना, कटाक्ष करना, हाव भाव बतलाना और मय संगीत-साज बाज लेकर उसी बन में पहुंची, जहां वह साधु रहता था। साधु ने कहा 'यहां क्यों आई है ? हम मनुष्यों तक को अपने पास नहीं फटकने देते, तू तो स्त्री है। जाओ यहां से चली जाओ।' तब वह स्त्री बोली 'महाराज मैं एक अबला हूँ। संध्या हो गई, रात्रि होनें वाली है। आगे सिंह व्याघ्रादि जानवरों का भी डर है। मैं तो एक तरफ़ पड़ रहूँगी।' उस साधु ने बहुत हट किया पर वह नहीं मानी। अन्त में वह साधु अपनी कुटिया में चला गया। बाहर से उस स्त्री ने संकल लगादी। जब अर्ध-रात्रि का समय हुआ और जो उसनें मिष्ट स्वरों से आलाप भरा तो उसी समय उस साधु के काम-वासना जाग्रत हो गई। स्त्री का रूप और हास-विलास तो पहिले देखा ही था और अर्ध रात्रि का समय भी सुहावना था। उसने तुरंत दरवाजे के किवाड़ खटखटाए। स्त्री बोली क्या बात है ? साधु ने कहा 'अरे संकल तो खोल।' उसने नहीं खोली और कहा कि पहिले बात बताओ। साधु बोला 'जरा पेशाब लगी है।' स्त्री बोली 'ऊँ हूँ, वहीं किसी बर्तन में करलो।' परन्तु साधु के निरन्तर काम ज्वर बढ़ ही रहा था, अन्त में

छप्पर फाड़ के निकल आया। उसी समय तुरन्त उस मनुष्य ने अपना वास्तविक स्वरूप प्रगट कर लिया और कहा—'क्या वह चरण सत्य नहीं है? क्या इन्द्रिय-ग्राम ज्ञानी को आकर्षित नहीं करते।' साधु बड़ा लज्जित हुआ और बोला इस चरण को स्वर्णाक्षरों में लिखदो था। तो पंचेन्द्रिय के विषय बड़े बड़े विद्वानों को फँसा लेते हैं पर वीतरागियों को सुलभ भी है। पर विचारो तो इन्द्रियाधीन सुख शास्वत नहीं, सुखाभास है। सहज शास्वत सुख तो केवल आत्मा के अनुभव में ही है। जिस प्रकार विषयादि सुख आत्मा के नहीं उसी प्रकार क्रोधादि विभाव परिणाम भी आत्मा के नहीं। यदि आत्मा के होते तो काहे को पीछे से हाथ जोड़ते' भूल हो गई, माफ करो।' इससे साबित होता है कि क्रोधादि विभाव भाव भी आत्मा के नहीं। औदयिक है, मिटने वाली चीज है। पर क्षमा आत्मा की चीज है, वह निरंतर बनी रहती है। अतः आत्मा को निर्मल बनाओ। अभिप्राय को साफ रखो। यदि किसी के थप्पड़ मार दे तो बुरा लग जाय और कहो पैर दाबने लग जाय तो प्रशन्न हो जाय। तो सब अन्तरंग के परिणामों की कीमत है। गतियों में गमन भी परिणामानुसार ही है।

एक मुनिराज शिला पर ध्यान लगाए तिष्टे थे। उसी समय सिंह खाने को दौड़ा। उधर से रीछ भी मुनिराज के बचाने के अभिप्राय से दौड़ा। उनमें भयंकर युद्ध हुआ। दोनों प्राणान्त हुए। एक स्वर्ग गया और दूसरा नरक पहुंचा। परिणामों की निर्मलता का ही तो यह फल है। शुद्ध परिणाम ही मोक्ष में साधक है, इसमें संदेह नहीं।

अब कहते हैं कि मनुष्य को एक शुद्ध चेतना का ही आलम्बन है। वह टंकोत्कीर्ण, टांकी से उत्कीर्ण फूल के समान एक शुद्ध भाव है। वह निर्विकार एवं निर्विकल्प एक शुद्ध ज्ञान घन है। उसमें किसी भी प्रकार की शंकरता नहीं। बाह्य में अवश्य दोनों (पुग्दल और जीव) का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो रहा है पर किसी का एक प्रदेश भी किसी में प्रविष्ट नहीं होता। जैसे एक चार तोला सोना है और उसमें चार तोले की चांदी मिला दी, इस तरह वह आठ तोले की चीज बन गई। उसे सर्राफ के पास बेचने ले जाओ तो क्या वह तुम्हें आठ तोले के दाम दे देगा? नहीं। वह तो चार तोले ही की कीमत करेगा परन्तु जो नहीं जानने वाले हैं उनको वह आठ तोले ही दिखाती है। वैसे ही

आत्मा और पुग्दल का एकमेक होने से ज्ञानी को तो एक शुद्ध आत्मा ही दीखती है और अज्ञानी को वह मिश्रित। अब देखो, वाह्य में सोना और चादी बिलकुल मिली हुई दीखती है पर विचारो सोना अलग है और चांदी अलग है। सोने का परिणमन सोने में हो रहा है और चांदी का परिणमन चांदी में। सोने का एक चाँवल चाँदी में नहीं जाता और चांदी का एक चांवल सोने में नहीं आता। वैसे ही आत्मा अलग है और पुग्दल अलग है। आत्मा का परिणमन आत्मा में हो रहा है और पुग्दल का परिणमन पुग्दल में। आत्मा का चतुष्टय जुदा है, पुग्दल का चतुष्टय जुदा है। आत्मा की चेतनता पुग्दल में नहीं जाती और पुग्दल की जड़ता आत्मा में नहीं आती। पर व्यवहार में देखलो एक सो दिखाती है। और जब उस सोने चांदी को तेजाब में ढाल दिया तो सोना सोना रह जाता है, चांदी चांदी रह जाती है। वैसे ही तत्व दृष्टि से विचारो तो आत्मा आत्मा है और पुग्दल पुग्दल ही है। कोई का किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं। चेतन में जड़ का क्या काम ? अब देखिये शरीर पर कपड़ा पहिना तो क्या कपड़ा शरीर में प्रवेश कर गया ? उस जीर्ण वस्त्र को उतार कर दूसरा नवीन वस्त्र

पहिन लिया। वैसे ही आत्मा ८४ लाख योनियों में पर्याय मात्र बदल लेती है। कोई कहे कि इस तरह तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध हुई। उसमें कुछ बिगाड़ भला होता नहीं; चाहे अब कुछ भी करो। पर ऐसा नहीं। नय प्रमाण से पदार्थों के स्वरूप को समझने का यत्न करो। द्रव्य दृष्टि से तो वह त्रिकाल सर्वथा शुद्ध है पर वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्ध ही माननी पड़ेगी! नातर संसार किसका?

ऐ भइया, जो तुम पूजा करते हो तो भगवान से कहते हो नः—

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनं।
तिष्ठतु जिनेन्द्र यावद् तावद् निर्वाण सम्प्राप्तिः॥

हे भगवान्! तेरे चरण मेरे हृदय में निवास करें और मेरा हृदय तेरे चरण कमल में। कब तक? जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो। यदि आज ही निर्वाण हो जाय तो नहीं हो। और कहा हैः—

शास्त्राभ्यासो जिन पति नुतिः संगति सर्वदार्य्यैः।
सद्वृत्तानां गुणगण कथा दोष वादे च मौनं॥

सर्वस्यापि प्रिय हित वचो भावना चात्म तत्वे ।
संपद्यन्तां मम भव भवे यावदेतेपवर्गः ॥

हे भगवन् ! अपवर्ग कहिए मोक्ष को जब तक प्राप्त न करूं तब तक शास्त्र का अभ्यास, सर्वज्ञ की सेवा और अच्छी संगति मिले । सद्वृत्ति है जिनकी ऐसे पुरुषों का गुणगान करूं, पराए दोषों के कहने को मौन हो जाऊं । सुन्दर हितमित के बचन बोलूं । तो जभी तक न जब तक मोक्ष न हो जाय । इससे मालूम पड़ता है कि उस शुद्धोपयोग में शुभोपयोग की भी आवश्यकता नहीं है । अरे जभी तक सीढ़ी चढ़ूँ न जब तक शिखर पर न पहुँचूं । शिखर पर पहुँच गए तो फिर सीढियों की क्या आवश्यकता ? बताओ । तो सम्यक्दृष्टि का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग में ही रहता है । वह पूजा दानादि में प्रवर्तन करता है अशुभोपयोग की निवृत्ति के लाने । उपयोग तो कहीं न कहीं जायगा ही । पर क्या करे—जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं हुई तब तक शुभोपयोग रूप ही प्रवृतता है । यदि आज ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाय तो आज ही त्याग दे । तो भइया, शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों हेय हैं । इसका यह मतलब नहीं कि हम शुभोपयोग ही न करें ।

शुभोपयोग करो-इसका कौन निषेध करता है! शुभोपयोग को त्यागने से शुद्धोपयोग नहीं होता, किन्तु शुभोपयोग में जो मोक्षमार्ग की कल्पना कर रखी है, उसके त्याग और राग-द्वेष की निवृति से शुद्धोपयोग होता है और यही परिणाम मोक्ष-मार्ग का साधक है। पर कुछ लोग अपने को शुद्ध बुद्ध निरजन समझ कर स्वेच्छचारी हो जाते हैं और शुभ की जगह अशुभ में प्रवर्तन करने लग जाते हैं और फिर अपने को सम्यग्ज्ञानी मानते हैं, भइया यह बात तो हमारे समझ में नहीं आती। तत्व दृष्टि से विचार करो, क्या वह सम्यक्ज्ञानी हो जायगा? जो ज्ञानी पुण्य को भी हेय समझे क्या वह पाप में प्रवर्तन करेगा? कदापि नहीं। मल्लजी साहब ने अपने मोक्ष मार्ग-प्रकाश में एक स्थान पर लिखा है:—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु वन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलक—वदना रागिणोप्या—चरन्तु
आलम्ब्यन्तां समिति परतां ते यतोद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगम विरहात्सन्ति सम्यक्त्व शून्या।

स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हौं, मेरे कदाचित्

बंध नाहीं ऐसे ऊँचा फुलाया है मुख जिनने ऐसे रागी वैराग्य-शक्ति रहित भी आचरण करे हैं, तो करौ, बहुरि पंच समिति की सावधानी को अवलंबे हैं, तो अवलबौ, ज्ञान-शक्ति बिना अजहूं पापी ही है। ए दोउ आत्मा अनात्मा का ज्ञान रहितपना तैं सम्यक्त्व रहित ही है। एक जगह लिखा है:—

तिल तैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदित परमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीयः॥

हम लोगों ने तेल ही तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये घी के स्वाद को जानते ही नहीं। वैसे ही शुद्धोपयोग के बिना जो शुभोपयोग उसके द्वारा प्राप्त जो इन्द्रियाधीन सुख उसको ही हमने वास्तविक सुख समझ रक्खा है। ऊँट को कड़वा नीम ही अच्छा लगता है, वह गन्ने को बुरा समझता है। 'जिन नहीं चाखी मिसरी, उनको कचरा मिट्ठा'। अतः शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं। मोक्ष का कारण केवल शुद्धोपयोग ही है। नौका को मत त्यागो देखें, कैसे पार पहुंच जाओगे? पार पहुंचने के लिए नौका त्यागनी ही पड़ेगी। वैसे ही शुभोपयोग में रह कर ही यदि मुक्ति चाहो तो कदापि प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्ति

के लिए शुद्धोपयोग का आश्रय ग्रहण करना ही होगा। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे कोई मनुष्य शिखरजी की वन्दना के वास्ते गया। चलते चलते वृक्ष की छाया मिल गई। वहां उसने किंचित विश्राम लिया। वहां से चलकर वह स्वाभिष्ट स्थान पे पहुँच गया। फिर वह कहता है कि मुझे छाया ने वहां पहुंचा दिया अरे, छाया ने वहां नहीं पहुंचाया, पहुंचाया तो उसकी चाल ने। छाया केवल निमित्त मात्र हुई। वैसे ही शुभोपयोग ने मोक्ष नहीं पहुंचाया। पहुंचाया तो शुद्धोपयोग ने पर व्यवहार से कहते हैं कि शुभोपयोग ने मोक्ष पहुंचाया। पर तत्व दृष्टि से विचारो तो शुभोपयोग संसार ही का कारण है क्योंकि उसमें राग का अंश मिला हुआ है।

सम्यक्ती भगवान के दर्शन करता है पर उस मूर्ति में भी वह अपने शुद्ध स्वरूप की ही झलक पाता है। हम भगवान के दर्शन करते हैं तो हमें उनके दर्शन ज्ञान और चारित्र ही तो रूचते हैं, और क्या है। क्योंकि जो जैसा अर्थ चाहता है वह उसी अर्थी के पास जाता है जो धन का अर्थी होगा वह धनाढ्यों की सेवा करेगा। वह हम सरीखों के पास क्यों आने लगा। और जो मोक्षार्थी होगा वह भगवान की सेवा करेगा।

हमें भगवान के दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूचते हैं, जब तो हम उनके पास जाते ही हैं।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि सम्यक्त्वी का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग पर रहता है। लेकिन फिलहाल शुद्धोपयोग पर चढने के लिये असमर्थ है इसलिए शुभोपयोग रूप प्रवर्तना है पर अन्तरंग में जानता है कि यह भी मेरी शान्ति-मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाला है। अब शुभोपयोग से स्वर्गादिक की प्राप्ति हो जाय तो इसमें उसके लक्ष्य का तो दोष नहीं है। देखिए, मुनि तपश्चरणादिक करते हैं जिससे उन्हें स्वर्गादिक मिल जाता है पर तप का काम स्वर्ग की विभूति दिलाना तो नहीं है। उसका काम तो मुक्ति-रमा से ही मिलाना है। चूंकि उस तप से वह मुनि शुभोपयोग की भूमि को स्पर्श नहीं कर सका इसलिए शुभोपयोग द्वारा स्वर्गादिक की प्राप्ति हो गई। जैसे किसान का लक्ष्य तो बीज बोने में धान्य उत्पन्न करना है पर उससे घास फूसादि की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। एतावता शुभोपयोग होने से स्वर्गादिक मिल जाता है। अरे भइया, स्वर्गों में भी क्या धरा है? तनिक वहां ज्यादा भोग है। कल्पवृक्षों की छाया है।

यहाँ ईंट चूने के मकान हैं वहाँ हीरे कंचन के प्रासाद हैं। और क्या है! ज्यादा से ज्यादा अप्सराओं के आलिंगन का सुख है सो भी क्षणिक अन्ततः दुखदायी। लेकिन अनुपम, अलौकिक और अतीन्द्रिय सच्चा शाश्वत सुख तो सिवाय अपनी आत्मा के और कहीं नहीं है। यह निश्चय है।

अतः हमको प्रथम अपनी श्रद्धा ठीक करना चाहिए। सम्यक्त्वी के श्रद्धा की ही तो महिमा है। वह जान जाता है कि मोक्ष का मार्ग यही है। उसकी गाड़ी लाइन पर आ जाती है। तो हमको उस तरफ लक्ष्य रखना चाहिए। अब देखिए, हम रुपया कमाने में कितना उद्योग करते हैं। कठिन से कठिन सवालों की गुत्थियाँ भी सुलझा लेते हैं क्योंकि उस तरफ हमारा लक्ष्य है।

प्रायः लोग सोचते हैं—क्या करें, मोक्ष-मार्ग तलवार की धार है। मुनिव्रत पालना बड़ा कठिन है। परिषया सहना बहुत मुश्किल है। तो हम तिल को ताड़ तो पहिले ही बना देते हैं। मोक्ष कैसे पहुँचेंगे! अरे भाई, मोक्ष-मार्ग के सन्मुख तो होओ। उस तरफ तनिक दृष्टिपात तो करो। एकाध व्रत के पालने का

अभ्यास तो करो। जैसे कोई व्यक्ति जहाज पर चढ़कर बम्बई पहुंचता है, कोई रेल में बैठकर पहुंचता है; कोई घोड़ा-गाड़ी में पहुंचता है और जिसपर घोड़ा-गाड़ी नहीं है तो वह पैदल ही पहुंचता है। उसी तरह मोक्ष-मार्ग के सन्मुख होना चाहिए फिर तो वहां तक पहुंचने में कोई बाधा नहीं। कभी न कभी वहां तक पहुंच ही जाएंगे; पर उस तरफ दृष्टि रखना चाहिए।

सम्यकदृष्टि की उस तरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्ष की ओर सन्मुख हो जाती है। अब चारित्र मोह है सो क्रमशः धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नहीं जितना दर्शन-मोह। जब फोड़े में से कीली निकल गई तो वह घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य को प्रथम अपनी श्रद्धा को सुधारने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। अब देखिए, जब लड़की विदा होती है तब वह रोती है, चिल्लाती भी है—बाह्य में सब क्रियाएं करती है पर जानती है कि मेरा तो पति-गृह है। माता भाई कुटुम्ब का कोई व्यक्ति मेरा नहीं है। मन में निश्चय से जानती है कि मुझे तो वहीं पहुंचना है। वैसे ही सम्यक्ती को केवल वही रटना लगी रहती है।

'आत्मानुशासन' में गुणभद्राचार्य ने लिखा कि एक शिष्य ने आचार्य महाराज से पूछा 'पुण्य बंध नरक का कारण है। यह सूधी सूधी बात क्यों नहीं कहते ?' क्योंकि पुण्य से विषय सामग्री जुटती है और विषयों के मिलने से भोगने की इच्छा होती है। भोगने से अशुभ कर्म-बंध पड़ता है और इस तरह नरक जाना होता है, आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं, पुण्य नरक का कारण नहीं है। पुण्य का तो काम विषय सामग्री जुटा देना मात्र है परन्तु तुम्हारी पदार्थ भोगने में जो आशक्तता है वह नरक का कारण है, न कि पुण्य। पदार्थों के भोगने में तो कोई आपत्ति नहीं पर उसमें लिप्त मत हो जाओ। अत्याशक्तता ही नरक की जननी है। 'आश्रयेन मध्यमां वृत्ति अति सवत्रं वर्जयेत' पं० आशाधरजी ने एक स्थान पर लिखा कि विषय को अन्न की तरह सेवन करे। यदि अन्न ज्यादा खा लिया जाय तो अजीर्ण हो जाय उसी तरह विषयों को अधिक सेवन करो तो मरो तपेदिक में। बुलाओ डाक्टर को। देखो आचार है। उसमें 'अति' लगादो तो अत्याचार हो जाय॥)

एक स्त्री थी। उसके बहुत लम्बे बाल हो गए। पर वह स्त्री प्रमादिनी थी, तो

कभी उनको साफ न करे। साफ करे तो अच्छे लगे। उसके पति ने उससे कहा कि इनको साफ कर लिया कर। पर हठी होने की वजह से कहना नहीं माना और अन्ततोगत्वा उसके जूं पड़ गई। तब दुखी देखकर उसके पति ने कहा अब क्या है? बाल कटवा डाल। उसने वैसा ही किया और वह बदसूरत लगने लगी। एक दूसरी स्त्री ने उससे पूछा—सखी! क्यों बाल कटवा दिए? वह स्त्री बोली—जूं पड़ गई थी। तो वह बोली—अरे मूरखनी, उन्हें धोती क्यों नहीं थी? अगर धो लेती तो काहे को कटाने की नौबत आती? इसी तरह यदि भोगों में अत्याशक्त नहीं होते तो भइया काहे को नरक जाते। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों में अत्याशक्तता ही दुर्गति का कारण है।

तुम्हारी जिन पदार्थों में रूचि है तभी तो ग्रहण करते हो। और परिग्रह क्या कुहाउत? मूर्छा परिग्रहः। मूर्छा ही का नाम परिग्रह है। तुम्हारी भोजन में रूचि है तभी तो खाते हो। मां को बच्चे से मूर्छा है इसीलिए तो लालन-पालन होता है। इस लँगोटी से हमें मूर्छा है तभी तो रखे हैं। तुम्हें घर-गृहस्थी से मूर्छा है तभी तो फँसे हो। यदि मूर्छा नहीं है तो फिर हो जाओ मुनि।

एक मुनि है, उन्हें मूर्छा नहीं है तो बताओ कौन लँगोटी सँभाले ? सँभालने वाली चीज थी वह तो मिट गई। और तो और, एक लँगोटी रांड ऐसी है जो मोक्ष नहीं होने दे। सोलह स्वर्ग से आगे जाने न दे।

एक मनुष्य पर कुछ ऋण था। ऋणवाले ने उससे रुपया मांगा। उसने कहा घर चल कर दूंगा। मार्ग में आते आते बीच में मुनि का समागम हो गया और उपदेश पाते ही वह मुनि हो गया। अब ऋण वाले ने अपने रुपये मांगे तो बताओ कौन देवे ! अरे देने वाली चीज थी वह तो मिट गई। अतः वह चीज जब तक बनी है तभी तक संसार है। जहां तक बने पर पदार्थों से मूर्छा हटाने का प्रयत्न करो। जितनी पदार्थों से मूर्छा हटेगी उतनी ही स्वात्म की ओर प्रवृत्ति होगी। लोग कहते हैं कि जितने यह धनाढ्य पुरुष हैं, उन्हें बड़ा सुख होता होगा। मैं तो कहूंगा कि उन्हें हम से भी ज्यादा दुख है। जिन पर परिग्रह का भूत सवार है वह तुम चाहो सुखी होंगे। तीन काल में नहीं। मनुष्य के जितना जितना परिग्रह बढ़ता जायगा उतना दुख दूना और रात चौगुनी होती जायगी और जितना कम होगा उतना ही सुख झलकेगा।

एक मनुष्य के पास गीता थी। उसके एक मात्र यही परिग्रह था। वह उसको रोज कपड़े में लपेट कर अलमारी में रख देता। एक मूषक आता और उस कपड़े को कुतर जाता। वह मनुष्य बड़ा परेशान था। उसने सोचा यदि मूषक के लिए बिलाव रखली जाय तो बड़ा अच्छा हो। एक बिलाव पाल ली। अब बिलाव के लिए दूध चाहिए तो एक गाय मोल लेना पड़ी। अब उस गाय की रखवाली के लिए कोई चाहिए नहीं तो पठन पाठन कैसे हो? अतः उसको रखवाली के लिए एक दासी रखी। दासी से उसका हो गया सम्बन्ध। बाल बच्चे हो गए। अब वह एक बच्चे को पीठ पर बिठाए और दूसरे को गोदी में लिए इसी आर्त रौद्र ध्यान में फँस गया। पूजा पाठ सब विस्मरण कर दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि एक परिग्रह की लालसा करने से देखलो वह पूरा ग्रहस्थी हो गया। पूजा पाठ जो करता था वह सब जाता रहा प्रत्युत खोटे ध्यान में फँसकर दुखी हो गया। अतः यदि मोक्ष की ओर रूचि है, सुख की कामना है तो परिग्रह को कम करने का प्रयत्न करे। इच्छाओं पर कन्ट्रोल रखे। एक मनुष्य ने भूखे को रोटी का दान किया। नंगे को कपड़ा दिया, निराश्रयों को आश्रय दिया और उसे सुख हुआ। वह

सुख उसे कहाँ से हुआ ? सुख तो उसे अवश्य हुआ। उस सुख का वह अनुभव भी कर रहा है। तो वह सुख उसका अन्तरंग से उमड़ा। उसने बिना किसी स्वार्थ के परोपकार बुद्धि से ऐसा किया जिससे उसे इच्छाओं (कषायों) की मंदता करनीपड़ी इसलिए उसे सुख हुआ। तो पता चला कि जब इच्छाओं (कषायों) की मंदता में उसे सुख मिला तो जिनके इच्छाओं (कषायों) का पूर्ण अभाव हो जाय और यदि उसे विशेष सुख मिले तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बडी बात है। जितनी मनुष्य के पास इच्छाएं हैं उसके लिए उतने ही रोग हैं। एक इच्छा की पूर्ति हो गई तो वह रोग कुछ देर के लिए शान्त हो गया और उसने अपने को सुखी मान लिया। पर परमार्थ दृष्टि से विचारो क्या वह सुखी हो गया ? आज सुबह रोटी खाई, शाम को फिर खाने की जरूरत पड़ गई। इससे मालूम होता है कि इछाओं में सुख नहीं है।

एक मनुष्य के आलू का त्याग था। दूसरे मनुष्य ने उससे कहा—अबे, क्यों त्यागता है ? कहीं त्याग में भी सुख मिला है ? वह मनुष्य तो चुप ही रहा। इतने ही में एक और आदमी आ गया। उसने कहा—भाई !

त्याग में क्यों सुख नहीं है?' उस मनुष्य ने जवाब दिया कि 'परमात्मा ने जितने भी पदार्थ संसार में रचे हैं, वह भोगने के ही लिए हैं। भोग विलास जब तक स्वांस।' उन दोनों में खूब वादविवाद हुआ। अन्ततोगत्वा यह निर्णय हुआ कि इच्छाओं में ही दुख है। जितनी जिसके पास इच्छाएँ हैं उतना ही उसे दुख है। उस आदमी ने कहा अच्छा, यदि एक इच्छा किसी के कम हो जाय तो उसे सुख होगा कि नहीं। उसने कहा हां, कुछ सुख होगा। फिर उसने कहा यदि किसी के एक मात्र लँगोटी की इच्छा रह जाय तो वह उससे ज्यादा सुखी है कि नहीं। उसने जवाब दिया वह उससे भी ज्यादा सुखी है। फिर उसने कहा यदि किसी के पास कुछ भी इच्छा न हो, दिगम्बर हो जाय; वह कितना सुखी है। तो वह बोला कि वह सब से ज्यादा सुखी है। बस, परिग्रह त्याग का मतलब ही यह होता है कि इच्छाओं को कम रखना। संसार में ही देखलो राजा की अपेक्षा एक सन्त ज्यादा सुखी है। अतः हमारी समझ में तो जिसने अपनी इच्छाओं को वश कर लिया वही सुखी है। विशेष तो कुछ जानते नहीं।

उदयशंकर था। वह स्त्री में पूर्ण आशक्त था। एक दिन उसका साला स्त्री को लेने के वास्ते आया। जब वह मायके को जाने लगी तब आप भी उसके साथ हो लिया। मार्ग में चलते चलते एक मुनिराज मिले जो एक शिला पै शान्ति मुद्रा से ध्यान लगाए तिष्टे थे। मुनि को देखते ही उसका हृदय शान्त हो गया। और उनके पास पहुंचकर बन्दना में ही मगन हो गया। उधर से उसका साला यह सब देख रहा था। वह पास आकर बोला क्या मुनि हो गए? उसने कहा—यदि तुम मुनि हो जाओ तो मैं भी मुनि हो जाऊं। साले ने सोचा जो पुरुष स्त्री का इतना लंपटो है वह क्या मुनि होगा? वह बोला अच्छा तुम हो जाओ तो मैं भी हो जाता हूं। ऐसा कहना था कि झट उसने कपडे उतार कर फेंक दिये और दीक्षा ले ली। अब वह साला क्या करता, आखिर उसे भी मुनि होना पड़ा। दूर से स्त्री खड़ी हुई यह तमाशा देख रही थी। वह विचार करने लगी पति भी मुनि होगया, भाई भी हो गए। अब मैं गृहस्थी में रह कर ही क्या करूंगी? अंत में वह भी अर्जिका हो गई। यह सब क्या है? परिणामों की ही तो विचित्रता है। मनुष्य के परिणामों के पलटने का कोई समय नियत नहीं, न मालूम उसके कब भाव पलट जाएँ, कोई कुछ नहीं कह सकता।

प्रद्युम्नकुमार जब विरक्त हुआ तो सारी सभा में जहांपर वसुदेव वासुदेव और बलभद्र आदि बैठे हुए थे: कहता भया—न हम तुम्हारे हैं, और न तुम हमारे। तुम हमारे शरीर के पिता थे और हम तुम्हारे पुत्र। आज हम संसार से उदासीन हुए हैं। वासुदेव कहने लगे—'अबे क्या बकता है, कलका छोकरा हमको समझाने आया है।' फिर प्रद्युम्नजी बोले—अच्छा तो तुम्हीं यहां के खंभ बने रहो। अब हम तो जाते है। रनवास में आकर स्त्री से बोले—हम तो दीक्षा लेते हैं। स्त्री बोली तुम यहां आये क्यों? क्या यहां लड़के का व्याह था या लड़की का। तुम दीक्षा ग्रहण करो या मत करो। मैं तो यह लो अर्यिका हो गई। दासी से कहा लाओ सफेद धोती।' तो यह सब परिणामों की ही महिमा है। कहते हैं चक्रवर्ति छः खंड का अधिपति था। पर जब विरक्त हुआ तो सारी विभूति पै यों लात मार दी मुंह फेर कर नहीं देखा। परिणामों में जब विरक्तता समा जाती है तो दुनिया की ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मनुष्य के हृदय को पलट दे। उसे विरक्त होने से रोक ले। इसीलिए कहा है 'सम्यक परिणामों की सबलता ही मुक्ति रमा से मिलाने वाली दूती है।'

प्रवचनसार के चारित्राधिकार में लिखा है कि एक मनुष्य को जब वैराग्य उत्पन्न हुआ तो उसने सकल स्वजनों को बुलाकर कहाः—

"अहो इदं जन-शरीर-जनकस्यात्मन् अहो इदं जन-शरीर-जनन्या आत्मन् अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत् इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञान-ज्योतिः आत्मानमेवात्मनो अनादि जनकमुपसर्पति।"

अपने पिता से कहता है कि देखो तुम हमारे शरीर का पैदा करने वाले हो, हमारी आत्मा को नहीं। अब हमें वैराग उत्पन्न हुआ है तुम हमें मत रोकना। पुत्र को बुलाकर कहता है कि देखो बेटा, न तो हम तुम्हारे पिता हैं और न तुम हमारे पुत्र। माता का रुधिर और हमारे वीर्य से यह तुम्हारा शरीर उत्पन्न हुआ है। तुम्हारी आत्मा बिलकुल स्वतंत्र है। अतः हमें वैराग हुआ है तो हमसे ममत्व भाव छोड़। अपनी स्त्री से आकर कहता है देखो तुम हमारे शरीर को रमण करने वाली थीं। हमारी आत्मा को नहीं। और हम भी तुम्हारे शरीर को रमण करने वाले थे। अतः हमें वैराग्य हुआ है तो तुम बीच में मत पड़ना। अब यह दर्शन,

ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों से रहित निःशल्य हुआ एक अखण्ड टंकोत्कीर्ण शुद्धात्मा को ध्याता है।

अतः मनुष्य के लिए एक शुद्धात्मा का ही अव-लम्बन है। उसी के लिए देखो यह सारा प्रयास है। और परिणामों में जितनी चंचलता होती है, यह सब मोहोदय की कल्लोलमाला है। उसमें कोई काम क्रोधादि विकारी भाव नहीं। यदि क्रोध आत्मा का होता तो फिर क्यों कहते कि हम से गलती हो गई, क्षमा करो। इससे मालूम होता है कि वह तुम्हारी आत्मा का विभाव भाव है।

एक मेहतरानी किसी स्थान पर झाडू लगा रही थी। निकट ही एक तापसी बैठा हुआ था। झाड़ू लगाते समय कुछ धूल के कण उस तापसी पर भी पड़े। वह तुरन्त क्रोधित हो गया और बोला—'ए मेहतरानी! क्या करती है?' वह बोली—'झाड़ू लगाती हूँ।'

'तुझे दिखता नहीं है।'

'तुझे तो दिखता है'

'अरी, बड़ी चांडालनी है'

'अरे, मेरा पति तो तेरे घट में बैठा है'

'क्या बकती है ?'

'ठीक कहती हूँ ;

इतने में दस-पांच और आदमी इकट्ठे होगए। दोनों में खूब वादविवाद हुआ। अन्त में उससे मेहतरानी ने कहा—'देखो, चांडाल क्रोध तुम्हारे घट में बैठा है या नहीं।'

कोई कहता है कि हमें क्षमा नहीं आती। बहुत शास्त्र पढते हैं, सभा में श्रवण भी करते हैं, पर क्षमा मालूम ही नहीं पड़ती। मैं तो कहता हूं कि क्षमा तीन काल में नहीं आ सकती। चाहे खूब माथा-पच्ची करो। बड़े बड़े लम्बे पोथंगे शास्त्रों के बांच डालों, क्षमा यों कदापि नहीं आ सकती। हां, क्रोध छोड़ दो, क्षमा स्वतः आ जयगी। क्षमा कहीं शास्त्रों में नहीं धरी, वह तो आत्मा की चीज है और आत्मा की चीज आत्मा में ही मिल सकती है। केवल क्रोध छोड़ने की आवश्यकता है।

लक्ष्मण परशुराम-संवाद में परशुराम लक्ष्मण से कहते हैं कि' हटजाओ हटजाओ मेरे सामने से।' तब लक्ष्मण उत्तर देते हैं 'मूँदहु आँख कतहु कोऊ नाहीं। कर विचार देखहु मन माहीं' आँख मीच लोः कोई यहां नहीं है। तो बस आंख मीच लो। हमारे कोई राग

द्वेष नहीं। राग द्वेष तो आत्मा के विभाव भाव हैं। उनको हटा दो। अरे, अग्नि का संयोग पाकर के जल में ऊष्णपना है। जल को ठंडा करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसका ऊष्णपना मिटादो। जल स्वतः ठंडा हो जायगा। वैसे ही आत्मा को शुद्ध स्वभाव में लाने की चेष्टा मत करो बल्कि विभाव भावों को मिटादो। आत्मा स्वतः अपने स्वभाव में आ जायगी। अतः राग द्वेष को हटाने की आवश्यकता है। इस प्रकार स्वात्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना करता हुआ सम्यक्ज्ञानी आगामी कर्म बन्धन में नहीं पड़ता है। अब बचे पूर्व-बद्ध-कर्म वह तो अपना रस देकर खिरेंगे ही उसको यों चुटकियों में भोग लेता है। इस तरह यह मोक्षार्थी पथिक मुक्ति के पथ पर निरंतर अग्रसर होता हुआ अपनी मंजिल का मार्ग तय कर लेता है और सदा के लिए शास्वत सुख में मगन हो जाता है।

आगे सम्यक्त्व का विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि वास्तव में एक टंकोत्कीर्ण अपनी शुद्धात्मा को ही अपनाता है। वह किसी पर पदार्थों पर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, जिसके पास सूर्य का उजाला है उसे दीपक की क्या आवश्यकता ? उसकी केवल एक

शुद्ध दृष्टि ही रहती है। और संसार में ही देखो—पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म और खान, पान के सिवाय है क्या ? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसी में गर्भित है।

अब बतलाते हैं कि भोग तीन तरह का होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यक्‌दृष्टि के इन तीनों में से किसी की भी इच्छा नहीं होती। अतीत में जो भोग भोग लिया उसकी तो वह इच्छा ही नहीं करता। वो तो भोग ही चुका। अनागत में वह वाँछा नहीं करता कि अब आगे भोग भोगूंगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमान में उन भोगों के भोगने में कोई राग बुद्धि नहीं है। अतः इन तीनों कालों में पदार्थों के भोगने की उसके सब प्रकार से लालसा मिट जाती है। अतीत में भोग चुका, अनागत में वांछा नहीं और वर्तमान में राग नहीं तो बतलाओ उसके बंध होय तो कहां से होय ? क्या सम्यक् दृष्टि भोग नहीं भोगता ? क्या उसके राग नहीं होता ? राग करना पड़ता है पर राग करना नहीं चाहता। उसकी राग में उपादेय बुद्धि मिट जाती है। वह राग को सर्वथा हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्र मोह बैठा है उसका क्या करे ? उसको

उदासीनता से सहन कर लेता है। उदय में आओ और फल देकर खिर जाओ। फल देना बंध का कारण नहीं है। अब क्या करे जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदय में आएगा ही परन्तु उनमें राग द्वेष नहीं। यदि फल ही बंध का कारण होता तो कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह ही बंध का कारण है।

अब देखो भइया, योग और कषाय ये दो ही तो चीजें हैं। उसमें योग बंध का कारण नहीं कहा, बंध का कारण बतलाया है कषाय। कषाय से अनुरंजित प्राणी ही बंधन को प्राप्त होता है। देखिए १२ वें गुणस्थान में केवली के योग होते हैं, हुआ करो परन्तु उनमें कषाय नहीं मिली इसलिए अबंध है। अब देखो, ईंट पर ईंट धर कर मकान बना तो लो जब तक उसमें चूना न हो। आटे मे पानी मत डालो देखें कैसे रोटी हो जायगी? अग्नि पर पानी से भरी हुई बटलोई रक्खी है। अब खलबल खलबल हो रही है। तो क्या होता है—जबतक उसमे चावल न हों। एवं बाह्य में समवशरण आदि विभूति है पर अन्तरंग में कषाय नहीं है—तो बताओ कैसे बंध होय। तो मालूम पड़ा कि कषाय ही

बंध को कराने वाली है । सम्यकदृष्टि को कषायों से अरुचि हो जाती है । इसीलिए उसका राग रस वर्जन शील स्वभाव हो जाता है । अब देखिए, तुम इस से मिले । मिले तो सही पर अन्तरंग से यही चाहते रहे कि कब यह बला टल जाय ? उससे मिलने की इच्छा ही नहीं होती । हम आपसे पूछते हैं, क्या वह मिलने में मिलना हुआ ? ऊपर से मिला पर अन्तरंग से जैसा मिला वैसा ही नहीं मिला । वैसे ही भइया, सम्यक्त्वी को रागादिकों से अत्यन्त अरुचि होजाती है । वह किसी पर पदार्थको इच्छा ही नहीं करता । इच्छा करे तो होता क्या है ? वह अपनी चीज होय न जय । अपनी चीज होय तो उसकी इच्छा करे । इच्छा को ही वह परिग्रह मानता है । और परिग्रह है क्या चीज ? पर पदार्थ तो तुम्हारे कुछ होते नहीं । लोक क्या कहाउत ? छः द्रव्यों का समुदाय ही तो है । 'सब द्रव्य स्वतः अपने स्वभाव में परिणमन कर रहे हैं । कोई किसी के आधीन नहीं होता ।' पर मोह से हम उसे मान लेते हैं कि यह तो हमारी हैं । क्या वह तुम्हारी हो जाती है ? सम्यकदृष्टि बाह्य पदार्थों को तो जुदा समझता ही है पर अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक है उनको भी वह हेय ही जानता है क्योंकि बाह्य वस्तु को अपना मानने का कारण अन्तरंग के

परिणाम ही तो है। यदि अन्तरंग से छोड़ दो बाह्य वस्तु तो स्वतः छूटी ही है सम्यक्दृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, वह उसके मूल कारण को देखता है। इसीलिए सम्यकदृष्टी की परिणति अटपटी हो जाती है। वह बाह्य में कार्य करता अवश्य है पर अन्तरंग से कुछ और ही रटना लगी रहती है। उसके अन्तरंग में मिश्री ही घुला करती है। अतः सम्यक्ती और मिथ्याती में बड़ा अन्तर हो जाता है। सम्यक्ती की अन्तरंग दृष्टि होती है तो मिथ्याती की बहिर दृष्टि। सम्यक्ती संसार में रहता है पर मिथ्याती के हृदय में संसार रहता है। जल के ऊपर जब तक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नहीं; पर जब नाव के अन्दर जल बढ़ जाता है तो वह डूब जाती है। एक रईस है तो दूसरा सईस। रईस के लिए बग्गी होती है तो बग्गी के लिए सईस। मिथ्याती शरीर के लिए होता है तो सम्यक्ती के लिए शरीर। दोनों बहिरे होते हैं। वह उसकी बात नहीं सुनता और वह उसकी नहीं सुनता। वैसे ही मिथ्याती सम्यक्ती की बात नहीं समझता और सम्यक्ती मिथ्याती की। वह अपने स्वरूप में मग्न है और वह अपने रंग में मस्त है

देखिए जो आत्मा और अनात्मा के भेद को नहीं जानता वह आगम में पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनि को ही

देखो। वह बाह्य में सब प्रकार की क्रिपा कर रहा है। अठाईस मूल गुणों को भी पाल रहा है। बड़े बड़े राजे महाराजे नमस्कार कर रहे हैं। कषाय इतनी मंद है कि घानी में भी पेल दो तो त्राहि न करे। पर क्या है? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्मा का भेद नहीं मालूम हुआ तो वह पापी ही है। चरणानुयोग की अपेक्षा से अवश्य मुनि है पर करणानुयोग की अपेक्षा से मिथ्याती ही है। उसकी गति नवग्रैवेयिक से आगे नहीं। ग्रैवेयिक से च्युत हुआ और फिर वहीं पहुंचा। फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

एक मनुष्य था, मइय्या। उसने एक विद्या सिद्ध करी जिसके फल स्वरूप एक देव प्रकट हुआ। देव ने कहा—'क्या चाहता है?' पर एक शर्त है—यदि तू मुझे काम नहीं बतलाएगा तो मैं तुझे मार डालूंगा। उस मनुष्य ने स्वीकृति देदी और अपने सब कार्य करवा लिए। जब कोई काम शेष न रहा तब देव ने कहा 'काम बतलाओ' अन्यथा मारता हूं। वह मनुष्य बोला अच्छा, एक रस्सी की सीढियां बनाओ। उस पर चढो और उतरो। वह उसी माफिक उतरने चढने लगा। अन्त में हाथ जोडे और बोला 'तुम जीते मैं हारा'। वैसे ही

द्रव्यलिंगी चढता उतरता रहता है पर भावलिंगी एक दो भव में ही मोक्ष चला जाता है। तो कहने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्ती उस अनादिकालीन ग्रन्थि को—जो आत्मा और अनात्मा के बीच पड़ा हुई थी; अपनी प्रज्ञा रूपी छैनी से छेद डालता है। वह सबको अपन से जुदा समझता हुआ अन्तरंग मे विचार करता है 'सहज शुद्ध ज्ञानानन्दैक स्वभावोऽहम्'। अर्थात मे सहज शुद्ध ज्ञान और आनन्द एक स्वभाव रूप हूँ। एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है। उसकी गति ऐसी ही हो जाती है जैस जहाज का पक्षी—उड़कर जाय तो बताओ ! कहां जावे'। इस ही को तो एकत्व एवं अद्वैत कहते हैं। 'संसार में यावद् जितने पदार्थ है वह अपन स्वभाव से भिन्न है।' ऐसा चिंतवन करना यही तो अन्यत्व भावना है। अतः सम्यक्ती अपनी दृष्टि को पूर्ण रूपेण स्वात्मा पर ही केन्द्रित कर देता है।

देखिए मुनि जब दिगम्बर हो जाते हैं तो हमको ऐसा लगता है वे कष्ट परिषहा सहन करते होंगे ? पर भइया, हम रागी और वे वैरागी। उनका हमारी क्या समता ? उनके सुख को हम रागी जीव नहीं पा सकते। सुकुमाल स्वामी को ही देखिए। स्यालिनी ने उनका

उदर विदारण करके अपने क्रोध की पराकाष्ठा का परि-चय दिया किन्तु वह स्वामी उस भयंकर उपसर्ग से विच-लित न होकर उपसम श्रेणी द्वारा सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरंग की बात है। लोग कहते हैं कि भरतजी घर ही में वैरागी थे। अरे, वह घर में वैरागी थे तो तुम्हें क्या मिल गया? उनको शान्ति मिली तो क्या तुम्हें मिल गई? उनने लड्डू खाये तो क्या तुम्हारा पेट भर गया? अरे, यों नहीं 'हम ही घर में वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घर ही वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हें शांति मिलेगी। उनको रटना लगाए रहो तो बताओ तुमने क्या तत्व निकाला? तत्व तो जभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णव में लिखा है कि सम्यक् दृष्टि दो ही तीन हैं। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो तो बहुत कह दिए—यदि एक ही होता तो कहते हम हैं। हम ही सम्यकदृष्टि हैं। अतः अपने को सम्यकदृष्टि बनाओ। ऊपर से छल कपट हुआ तो क्या फ़ायदा? अपने को माने सम्यक्ज्ञानी और करे स्वेच्छाचारी। यह तो अन्याय हुआ। सम्यक्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात करता है। भयंकर से भयंकर उपसर्ग में भी वह अपने श्रद्धान से विचलित नहीं होता। देखो

गवर्नमेन्ट कितना ब्लेक मार्केट रोकती है पर तो भी होता ही है। वैसे ही सम्यक्त्वी को कितनी भी बांधा जाए तो भी वह अपने को मोक्ष मार्ग का पथिक ही मानता है।

वेदक भाव (वेदने वाला भाव) और वेद्यभाव (जिसको वेदे) इन दोनों में काल भेद है। जब वेदक भाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदक भाव नहीं होता। ऐसा होने पर जब वेदक भाव आता है तब वेद्यभाव विनस जाता है तब वेदक भाव किसको वेदे? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदक भाव विनस जाता है तब वेदक भाव के बिना वेद्य को कौन वेदे? इसलिए ज्ञानी दोनों को विनाशीक जान आप जानने [illegible] हो रहता है।

अतः सम्यक्त्वी को ऊंचाल का बंध [illegible] नहीं [illegible] पर हम जब अपनी ओर दृष्टि डालते हैं [illegible] मगन होने के अलावा और कुछ दिखता [illegible] नहीं है [illegible] भोगना ही मानों लक्ष्य बना लिया है। [illegible] कि हम मोक्ष मार्ग में लग रहे हैं [illegible] कि नरक जाने की नसैनी बना रहे हैं

एक लड़का था। वह बड़ा निठल्ला और प्रमादी था। एक दिन क्रोध में घर से निकलकर कुए में पैर लटकाए ऊपर बैठ गया। उधर से एक आदमी ने पूछा—अरे यहां क्यों बैठा है? गिर नहीं पड़ेगा। तो वह बोला-तुम्हें कैसे मालूम? उस आदमी ने कहा 'तेरी करतूतों से।' वैसे ही आचार्य कहते है कि तुम भी अपनी करतूतों से भोगों में मगन होकर संसार में डूब रहे हो। स्वयंभूस्तोत्र में भगवान सुपार्श्वनाथ की स्तुति में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा हैः—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिक मेषपुंसां।
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा॥
तृषोनु षंगान्न च ताप शान्ति।
रितिरेवमाख्यद्भगवान सुपार्श्वः॥

स्वास्थ्य वही जो कभी क्षीण न हो। जो क्षीणता को प्राप्त होय वह स्वास्थ्य किस काम का? और स्वार्थी पुरुषों के भोग भी विषम एवं क्षणभंगुर है। एक ने पूछा कि जब तक भोग भोगते हैं तब तक तो उसे सुख कहो। तो कहते हैं कि वह भी सुख आताप का उपजाने वाला है क्योंकि उसमें तृष्णा रूपी रोग लगा हुआ है। अतः भोगों से कभी तृप्ति नहीं मिल सकती। भोगों से

तृप्ति चाहना ऐसा ही है जैसे अग्नि को घी से बुझाना। मनुष्य भोगों में मस्त हो जाता है और उसके लिये क्या २ अनर्थ नहीं करता। भोगों के लिए जो अनर्थ करे जाय, थोड़े ही हैं। रावण को ही देखिए। वह जब सीताजी को ले जा रहा था तब जटायु बचाने को आया। उसने एक थापड़ मारी बेचारा रह गया। बतलाओ उस पक्षी से क्या करता। सो केवल भोगों के लाने ही तो किया। इससे भोगों में सुख नहीं। सम्यकदृष्टी भोगों से उदास हो जाता है। जब वह स्वर्गादिक की विभूति भी प्राप्त करता है और नाना प्रकार की विषय सामग्री होते हुए भी अन्त में देवों की सभा में यही कहता है कि कब मैं मनुष्य योनि पाऊँ? कब भोगों से उदास होऊँ? और कब नाना प्रकार के तपश्चरण आचरण कर मोक्ष रमणी को वरूँ? ऐसी ही भावना निरंतर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरंतर बनी रहती है—क्या उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती? अवश्यमेव होती है। इसमें सन्देह को कोई स्थान ही नहीं।

अब कहते हैं कि जब सम्यकदृष्टी को पर पदार्थों से अरुचि हो जाती है तब घर में क्यों रहता है? क्यों कार्य करता है? इसका उत्तर करते हैं कि वह करना नहीं चाहता पर क्या करे, जो पूर्व-बद्ध कर्म हैं उनके उदय से करना

पड़ता है। वह चाहता अवश्य है कि मैं कोई कार्य का कर्ता न बनूँ। उसके पर पदार्थों से स्वामित्व बुद्धि हट जाती है पर जो अज्ञानावस्था में पूर्वोपार्जित कर्म हैं उनके उदय से लाचारीवश होकर घर-ग्रहस्थी में रहकर उपेक्षा बुद्धि से करना पड़ता है। इसका दृष्टान्त ऐसा है कि एक सेठ था। उसके यहां चोर आए। चोरों ने उस सेठ से पूछा कि माल कहां है? पहिले तो सेठ ने नहीं बताया। तब चोरों ने उसके हाथ में सुई चुभोदी। सेठ ने भय से अपना सारा माल बता दिया। चोरों ने वह सब माल ले लिया और उसको ऊपर से नीचे पटक दिया। सेठ जैसे तैसे वहां से भागा और चिल्लाता गया-हाय, रे हाय, मैं तो लुट गया। उधर से उसका ईमानदार नौकर आरहा था। उसने पूछा-सेठजी! क्या बात है? सेठजी तुनक कर बोले-अरे, चोरों ने मुझे लूट लिया। नौकर तुरन्त ही घर में गया और उन चोरों को पकड़ लिया। उसने आवाज देते हुए कहा-सेठजी, आप निश्चिन्त रहिए। मैंने चोरों को पकड़ लिया है और आपका माल सब सुरक्षित है। सेठजी हर्ष सहित अपने घर लौटे और देखा कि सब माल जहां का तहां है। बड़े प्रशन्न हुए। अब हम आपसे पूछते हैं कि सेठजी अपना माल देखकर तो

प्रशन्न हुए पर जो उसके हाथ में सुई चुभोई गई उसका दर्द तो भोगना पड़ा। जो ऊपर से उसे पटका गया उसका दर्द तो कहीं नहीं गया! ठीक यही हाल सम्यक्दृष्टी का होता है। वह अपनी आत्मा का अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रशन्न हुआ। उसके अपार खुशी हुई। पर अज्ञानावस्था में जो जन्मार्जित कर्म है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नहीं करना पडे। मैं कब इस उपद्रव से मुक्त हो जाऊं? पर करना पड़ता है, चाहता नहीं है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्ति के समान हो जाती है। उसको चाहे जितना साज शृंगार करो पर उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसी भांति सम्यक्तो को चाहे जितनी सुख दुख की सामग्री प्राप्ति हो जाय पर उसे कोई हर्ष-विषाद नहीं।

हम कहते हैं कि मनुष्य अपना श्रद्धान न बिगाडे, चाहे जो हो जाय। सूर्य पूर्व से चाहे पश्चिम में उदित हो जाय पर हमको अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होना चाहिए। जब भइयो सीता को लोकापवाद हुआ तब राम ने कृतांतवक्र को बुलाकर कहा-'लेजाओ, सीता को बीहड वन में छोड आओ।' वह सीता महारानी को बन में ले गया जहां नाना प्रकार के सिंह चीते और व्याघ्र अपना मुँह बाए फिर रहे थे। सीता

ऐसे वन को देख कर सहम गई और बोली मुझे यहां क्यों लाए ? तब कृतांतवक्र कहते हैं हे महारानी जी ! जब आपको लोकापवाद हुआ, तब राम ने आपको वन में त्यागने का निश्चय कर लिया और मुझे यहां भेज दिया। उसी समय सीताजी कहती है कि जाओ, राम से जाकर कह देना कि जिस लोकापवाद से तुमने मुझे त्याग कर दिया, कहीं उसी लोकापवाद के कारण तुम अपने श्रद्धान से विचलित मत हो जाना। इसे कहते हैं श्रद्धान। सीता को अपना आत्मविश्वास था। क्या ऐसा श्रद्धान हम आप नहीं कर सकते ? उस तरफ लक्ष्य करे न जब। हम तो संसार की संसार में रहना चाहे और मोक्ष भी चाहे—ऐसा कभी हुआ और न हो सकता।

दोऊ काम न होय सयाने।
विषय भोग अरू मोक्ष भी जाने॥

प्रथम हमारी उस तरफ रूचि होनी चाहिए। सम्यक्दृष्टी को मुक्ति की उत्कट अभिलाषा रहती है। उसे पर पदार्थों से मूर्छा हट जाती है। वह अपनी मानन को भूल को सुधार लेता है। और मानन का ही देखो सारा झगड़ा है। एक चार मनुष्य परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। एक ने दूसरे को गाली निकाली। अब वह दूसरा मनुष्य

मान बैठा कि इसने यह गाली मुझको दी और वह क्रोध से आगबबूला हो गया। अब देखो, उस दूसरे मनुष्य ने मात्र मान ही तो लिया कि यह गाली मुझे दे रहा है, नहीं तो जानता कि यह तो वचन रूप पुद्गल परमाणु है और क्रोधित नहीं होता। और भी वहाँ मनुष्य बैठे थे उन्होंने नहीं माना इसलिए क्रोधित नहीं हुए। तो मनुष्य मानन में ही आत्मा का अहित कर डालता है। इन सबको हम अपनी चीज मानते हैं तभी तो विकल्प होता है—हाय रे, हाय-कहीं यह चीज चली न जाय ? अच्छा, जो चीज तुमने अपनी मानी वह तुम्हारे अन्दर तो न चली गई-पर अन्दर विकल्प होता रहता है। चीज रक्खी है वहां पर विकल्प कर रहे हैं अन्दर। और जब तुमने उससे ममत्व हटा लिया तो दुनियाँ ले जाय कुछ विकल्प नहीं।

एक वैश्य था भइया। वह बड़ा हट्टा कट्टा था। उसने एक क्षत्री को पटक लिया और उसकी छाती पै बैठ गया। क्षत्री ने पूछा-'भाई ! तू कौन है।' उसने कहा-' मैं वैश्य हूँ।' इतना कहना था कि फिर उस क्षत्री को जोश आगया और एक झटका देकर उसकी छाती पर सवार हो गया। इसी तरह जब तक हम अज्ञानी थे, पुद्गल द्रव्य को अपना मान हुए थे तब तक पुद्गल अपना प्रभाव जमाए हुए था।

और जिस काल हमारे निज स्वरूप का ज्ञान भान उदित हुआ तब सर्व अज्ञान के चिमगादड़ विला गए। हमको मालूम होगया कि हमारी आत्मा तीन लोक का धनी है। पुग्दल हमारा क्या कर सकता है? मानन में जो गलती पडी हुई थी वह मिट कर पुद्गल को पुद्गल और आत्मा को आत्मा जान लिया। और देखो मानन का ही संसार है। अन्धकार में रज्जु को सर्प मान बैठे हैं तभी तक तो भय है। वह मानन मिटा दो--आत्मा को आत्मा और पुद्गल को पुग्दल जानो। आत्मा को आत्मा जान लिया तो कहीं शरीर नष्ट नहीं हो जाता। जैसे पुरुष को स्त्री से विरक्तता हुई तो क्या स्त्री कहीं चली जाती है? अरे, जिस चीज से हम स्त्री को अपना मान रहे थे, वह चीज मिट गई। वैसे ही मोहोदय से शरीर में जो आत्मीय-बुद्धि लग रही थी, वह मिट गई। भेद-ज्ञान को प्राप्त होकर शरीर को शरीर और आत्मा को जान लिया। यही तो भेद-विज्ञान है।

अन्यमती कहते हैं कि भगवान सच्चिदानन्दमय-सत् चिद्-आनन्दमय हैं! सत् क्या कहाउत? उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्। ऐसा कोई पदार्थ है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त न होय। यदि होय तो बताओ। जैसे एक स्वर्ण की डली है। उसे गलाकर कटक बना लिया। यहां डली का तो

व्यय हुआ और कटक की उत्पत्ति हुई पर स्वर्णत्व दोनों में एकसा पाया गया। इसी तरह एक मनुष्य मरकर देव हुआ। यहां पर मनुष्य पर्याय का तो व्यय हुआ, देव पर्याय की उत्पत्ति हुई और चेतन जीव ध्रुव हुआ क्योंकि वह मनुष्य पर्याय में भी था और देव में भी है। इस तरह पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हैं। यदि उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्त पदार्थ न होय तो संसार का कोई व्यवहार ही न चले। तो सत् का कभी विनाश नहीं।

संसार के सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप मे हैं। कोई किसी से मिलता नहीं। और पदार्थों की भी जभी शोभा है जब एक दूसरे से न मिले। यदि मिल गए तो उनका स्वरूप च्युत हो जाता है-उनमें विकृति आजाती है। आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हुई तो देखलो संसार में भटक रही है। अपने स्वरूप मे आने से ही शोभा है। तो सम्यक् दृष्टी अपनी आत्मा के अलावा किसी पर पदार्थों के संयोग की वांछा नही करता। वह सर्व पदार्थों को-यहां तक कि परमाणु मात्र तक को-अपने से जुदा समझता है। और भइया जब तक पदार्थों को अपनाते रहोगे तब तक दान देना भी व्यर्थ है। यह निश्चय समझलो ! दान देते समय पदार्थों से ममत्व हटालो। यदि ममत्व नहीं हटाया और

दान कर दिया तो मन में विकल्पता आजायगी। कदाचित्
सोचोगे कि हमने ५००) रु. का दान किया तो हमें आगे
१०००) रु. मिले। नाना प्रकार का तपश्चरण किया तो
स्वर्ग में अप्सराओं के भोग चाहोगे। अतः दान करो तो
उन पदार्थों से मूर्छा हटालो-समझो हमारी चीज ही नहीं
है। ममत्व हटाया नहीं और दान कर दिया तो वह निहा-
यत बेवकूफी है। तो यह सब अन्तरंग के विकल्प है और
कुछ नहीं। किसी दीन को देखकर तुम्हे करुणा आई और
अन्दर विकल्प हुआ कि कुछ देना चाहिए। अतः देने की
आकुलता हो गई। और जब तक तुम दो नहीं तब तक वह
आकुलता न मिटे। दूसरों को दान करते हो तो तुम अपनी
आकुलता मेटने के वास्ते करते हो और जिसके आकुलता
नहीं होती तो वह कह देते हैं कि "चल चल यहां से।"
अतः आकुलता से ही दान दिया जाता है। इसी तरह
दया, क्षमा, यम संयम के भाव भी आकुलतामय है। देखो
आचार्यों को संसार के प्राणियों पर दया आई जभी तो
द्वादशांग वाणी की रचना हुई; किन्तु यथार्थ दृष्टि से
विचार करो तो आचार्य ने यह कार्य पर के अर्थ नहीं
किया किन्तु संज्वलन कषाय के उदय में उत्पन्न हुई
वेदना के प्रतिकार के अर्थ ही उनका यह प्रयास हुआ।

पर को तत्व ज्ञान हो, यह व्यवहार है और यह सब छठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है। अप्रमत्त में और आगे तो कोई आकुलता ही नहीं। इससे साबित हुआ कि वह एक निर्विकल्प भाव है।

उस आत्मा में कोई प्रकार के मोहादिक भाव नहीं। मोह का प्रपञ्च ही अखिल संसार है। अब देखिए, आदिनाथ स्वामी के दो ही तो स्त्रियाँ थी--नन्दा और सुनन्दा। उन दोनों को त्याग कर वन में भागना पड़ा। क्यों? घर में नहीं रह सकते। यदि कल्याण करना अभीष्ट है तो भागो यहाँ से। वन का आश्रय लो। अरे क्या घर में कल्याण नहीं कर सकते थे? नहीं। स्त्रियों का जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते। मोह की सत्ता जो विद्यमान है। वह तो चुलबुली मचाए दे रहा है। कहता है जाओ वन में। अरे, किसी बगीचे में ही चले जाते। नहीं। कारण कूट बड़ी चीज है। वन में ही जाओ। छः महिने का मौन धारण करो। एक शब्द नहीं बोल सकते। और छः मास का अन्तराय हुआ। यह सब क्या—मोह की महिमा! अच्छा, वहाँ घर से तो दो ही स्त्रियाँ छोड़ी और समवशरण में हजारों लाखों स्त्रियाँ बैठी हैं, तब वहाँ से नहीं भागे। इसका कारण यही कि यहाँ मोह नहीं था। और वहाँ मोह था तो जाओ वन में, धरो छः महिने

का योग। अतः मोह को विलक्षण महिमा है।

मोह से ही संसार का चक्र चल रहा है। यह कर्म ही मनुष्यों पर सर्वत्र अपना रौब गालिब किए हुए है। इस के नशे में मनुष्य क्या २ बेढब कार्य नही करता। यहाँ तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्ग में इन्द्र अपनी सभा में देवों से यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्र में राम और लक्ष्मण के समान स्नेह और किसी का नहीं। उसी समय एक देव उनके परीक्षा के हेतु अयोध्या में आया। वहाँ उसने ऐसी विक्रिया व्याप्त करी कि नगर का सारा जनसमूह शोकमय दिखाई पड़ने लगा। नर-नारी अत्यधिक व्याकुल हुए ऐसे रुदनमय शब्द करते हुए कि जो श्री रामचन्द्र का देहावसान हो गया। जब यह भनक लक्ष्मणजी के कर्णपुट में पड़ी तो अचानक लक्ष्मण के मुख से 'हा राम' भी पूर्ण नहीं निकला कि उनका प्राणान्त होगया। यह सब मोह की विलक्षण महिमा ही है। यह ऐसा है जैसा नहीं है-यह ऐसा पीछे है जैसा पीछे नहीं था ऐसा आगे है, जैसा आगे नहीं होगा-मोह मे ही करता है। मोह में ही तो सीता का जीव राम से आकर कहता है कि

स्वर्ग में हमारे पास आ जाना। यहाँ मनुष्य का भयंकर शत्रु है। मोक्ष मार्ग से विपरीत परिणमन कराता है। अतः यदि मोक्ष की ओर रुचि है तो इन भूरिशः विकल्पजालों को त्यागो। मोह को जैसे बने कम करने का उद्यम करो। यदि पंचेन्द्रिय विषयों के सेवन में मोह कम होता है तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करने में मोह बढता है तो वह भी उस दृष्टि से हेय है। दुनियाँ मोह करे कभी भी इसमे मत फँसो। कोई भी तुम्हें मोह में नहीं फँसा सकता। सीता के जीव ने सोलहवें स्वर्ग से आकर श्री रामचन्द्र को कितना लुभाया पर वह मोह को नाश कर मोक्ष को गए।

अतः इससे भिन्न अपनी ज्ञान स्वरूपी आत्मा को जानो। तुष मास भिन्न मुनि को आत्मा और अनात्मा का भेद मालूम पड़ गया तो देखलो केवली हो गए। द्वादशांग का तो यही सार है कि अपने स्वरूप को पिछानो और उसमें अपने को ऐसे रमाओ जैसे नमक की डली पानी में घुल मिल जाती है। उपयोग में दत्तचित्त हो जाओ—यहां तक कि अपने तन मन की भी सुध-बुध न रहे। और देखो उपयोग का ही सारा खेल है। अपने उपयोग को कहीं न कहीं स्थिर रखना चाहिये। जिस मनुष्य का उपयो

डांवाडोल रहता है वह कदापि मोक्ष मार्ग में प्रवर्तन नहीं कर सकता। एक मनुष्य ने दूसरे से कहा कि मेरा धर्म में मन नहीं लगता। तब दूसरे ने पूछा कि तेरा मन कहां और किसमें लगता है? वह बोला-मेरा मन खाने में अधिक लगता है। सो दूसरा कहता है- अरे, कहीं पर लगता तो है। मैं कहता हूं कि मनुष्य का आर्तरौद्र परिणामो में ही मन लगा रहे। कहीं लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामों में मन लगता है वही किसी दिन धर्म में भी मन लगा सकता है। उपयोग का पलटना मात्र ही तो है।

एक विश्व-प्रशिद्ध गणितज्ञ था। उसके दुर्योग से गर्दन में फोडा होगया। वह अस्पताल में आया और डाक्टर को उसे दिखाया। डाक्टर ने कहा-तुम्हें दवा सुँघाई जायगी और बेहोश करके फोड़ा चीरा जायगा। उसने कहा -- नहीं, ऐसा मत करो। तुरन्त ही एक बोर्ड मगवाया और उस समय हाल ही जर्मन से जो एक प्रश्न आया था उसको उस बोर्ड पर लिख दिया और कहा--हां, अब फोड़ा चीरो। डाक्टर ने वह फोड़ा चीर दिया और जब वह पट्टी बाँध रहा था उसी समय उसका प्रश्न हल होगया। तब वह कहता है-डाक्टर, यहां जरा कुछ चिनमिनाहट सी

मच रही है।' यह भइया, उपयोग है। ऐसा ही उपयोग यदि आत्मा में लग जाय तो कल्याण होने में कुछ विलम्ब न लगे।

आपके मोक्ष-मार्ग-प्रकाश के रचयिता स्वर्गीय टोडरमलजी थे। जब वह एक ग्रन्थ की रचना कर रहे थे तो मां ने एक दिन उनकी परीक्षा करनी चाही। उसने साक में नमक नहीं डाला। मल्लजी सा० घर आते और खान-पीन से निवृत्त होकर फिर स्वकार्य में लग जाते। इसी तरह छः मास पर्यत मां ने नमक नहीं डाला। जब ग्रन्थ पूर्ण हो चुका और वह खाने बैठे तो मां से बोले'मां, आज शाक में नमक नहीं है।' मां बोली—बेटा, मैंने तो छः महिने तक नमक नहीं डाला। आज तुझे कैसे मालूम हुआ। तो भइया यह उपयोग है। यही उपयोग मोक्ष मार्ग में साधक है। धन्य है उस उपयोग को जो केवल अन्तरर्मुहूर्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर इस आत्मा में केवल-ज्ञान का प्रसार करता है।

शास्त्रों में सम्यक्त्वी को पहिचानने के लिए चार लक्षण बताए हैं १. प्रशम २. संवेग ३ आस्तिक्य और ४. अनुकम्पा। ये लक्षण बाह्य की अपेक्षा कहे हैं। वैसे सम्यक्त्वी को विषयों से अरुचि हो जाती है; यह प्रकट है। पर क्या करे

अनादिकाल की जो आदत पड़ी हुई है—उसका क्या करे। वह भोग अवश्य भोगता है पर देखा जाय तो उन विषयों में उसके शिथिलता आ जाती है। किसी ने कदाचित् उसका अपराध भी किया तो उसके बदला लेने के भाव कदापि नहीं होते। युद्धभूमि में वह हजारों योध्दाओं से युध्द भी करता है पर क्या वह ऐसा अन्तरंग से चाहता है कि उसे युध्द करना पड़े ? किसी कवि ने ठीक ही कहा है:—

दृगधारी चिन्मूरति की मोय रीति लगत है अटापटी।
बाहिज नारक कृत दुख भोगे अन्तर निज रस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पे तिस परिणति ते नित हटाहटी।

वास्तव में उसकी रीति अटपटी हो जाती है। नरक में नारकियों द्वारा नाना प्रकार के दुःख भोगता है पर अंत-रंग में उसके मिश्री ही घुला करती है। अनेक देवांगनाओं के समूहों में रमण करता हुआ भी नित्य उस परिणति से हटना चाहता है।

राजवार्तिक में लिखा कि हिंसा को दूर करने का कौनसा उपाय है। उत्तर में कहा कि जो प्रयोग तुम दूसरो पर करना चाहते हो उसका प्रयोग पहिले

स्वयं अपनी आत्मा पर करो। जिस सूई के चुभोने में अपने को दर्द का अनुभव होता है तो क्या दूसरों पर तलवार चलाने में उनको दर्द का अनुभव नहीं? अवश्य होता है। हिंसा को मेटने का यही उपाय है। और क्या है?

सचमुच में सम्यक्त्वी रागद्वेषरूपी कलंक आत्मा को अपने विशुद्ध परिणामों के जल से धो डालता है। वह अपने समान दूसरों को जानता है। अपने कल्याण का वह इच्छुक है। स्वपर उपकार में तत्पर है। जो प्राणी अपनी आत्मा का उपकार चाहता है—क्या वह दूसरों का उपकार नहीं चाहेगा? राग द्वेष से बचना ही अपनी आत्मा का सच्चा उपकार है। यही सम्यक्त्वी के लक्षण हैं। इसी से तो सम्यक्त्वी की पहिचान होती है। रामचन्द्रजी सम्यक्ज्ञानी थे। जब भइया, रावण के समस्त अस्त्र-शस्त्र विफल हो चुके तब अन्त में उसने महा शस्त्र, चक्र का उपयोग लक्ष्मण पर किया परन्तु श्री लक्ष्मण के प्रबल पुण्य से वह चक्र इनके हाथ में आगया। उस समय श्री रामचन्द्रजी महाराज ने अति सरल-निष्कपट-मधुर परहितरत वचनों के द्वारा रावण को सम्बोधन कर यह कहा कि हे रावण! अब भी कुछ नहीं

गया, अपना चक्र रत्न वापिस लेलो, आपका राज्य है अतः सब ही वापिस लो। आपके भ्राता कुम्भकर्ण आदि तथा पुत्र मेघनाद जो हमारे यहां बन्दीरूप में है उन्हें वापिस ले जाओ! आपका जो भाई विभीषण हमारे पक्ष में आगया है उसे भी सहर्ष ले जाओ—केवल सीता को देदो। जो नरसंहारादि तुम्हारे निमित्त से हुआ है उसकी भी हम अब समालोचना नहीं करना चाहते। हम सीता को लेकर किसी वन में कुटी बनाकर निवास करेंगे और तुम अपने राज महल में मन्दोदरी आदि पट्टरानियों के साथ आनंद से जीवन बिताओ। देखो कैसे सरल भाव है? और बताओ सम्यक्ती क्या भाव रखे? यही नहीं जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था तब किसी ने आकर रामचन्द्र से कहा—महाराज! वह तो विद्या सिद्ध कर रहा है। तब सरल परिणामी रामचन्द्र कहते हैं—सिद्ध करने दो, तुम उसकी सिद्धि में क्यों किसी प्रकार की बाधा डालते हो? और इस से ज्यादा सम्यक्ती के क्या भाव होंगे? बताओ। धन्य है वह वीर आत्मा जिसने अपनी आत्मा में सम्यक् दर्शन पैदा कर अनंत संसार की संतति को छेद दिया है। वह अवश्यमेव मोक्ष का पात्र है। संसार में भी वही केवल सुखिया है।

अब सप्त भयों का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यक्ती को उनमें से किसी प्रकार का भय नहीं। पहिला इस लोक भय है। सम्यकदृष्टी को इस लोक का भय नहीं होता। वह अपनी आत्मा के चेतना लोक में रहता है। और लोक क्या कहाउत ? जो नेत्रों से हम सब को दीख रहा है। उसे इस लोक से कोई मतलब नहीं रहता। वह तो अपने चेतना लोक में ही रमण करता है।, लोक में भी भइया तब भय होता है जब हम किसी की चीज चुराएँ। परमार्थ दृष्टि से हम सब चोर हैं जो परद्रव्यों को अपनाए हुए हैं। उन्हें अपना मान बैठे हैं। सम्यकदृष्टि परमाणु मात्र को अपना नहीं समझता। इसलिए उसे किसी भी प्रकार इस लोक का भय नहीं होता। दूसरा परलोक भय है। उसे स्वर्ग नरक का भय नहीं। वह तो अपने कर्तव्यपथ पर आरुढ है। उसे कोई भी उस मार्ग से च्युत नहीं कर सकता। नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्मा का ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त के पहिले नरकायु का बंध कर लिया हो तो नरक की वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूप को समझ गया। अतः उसे परलोक का भी भय नहीं होता। अब तीसरा वेदना भय है। वह अपनी भेद-विज्ञान की शक्ति से शरीर को जुदा समझता है और वेदना को समता से भोग लेता है। जानता है कि

आत्मा में तो कोई वेदना है ही नहीं इसलिए खेद-खिन्न नहीं होता। इस प्रकार उसे वेदना का भी भय नहीं होता। चौथा है अनरक्ष्य भय। वह किसी को भी अपनी रक्षा के योग्य नहीं समझता। अरे इस आत्मा की रक्षा कौन करे? आत्मा की रक्षा आत्मा ही स्वयं कर सकती है। वह जानता है कि गढ, कोट, किले आदि कोई भी यहां तक कि तीनों लोकों में भी इस आत्मा का कोई शरण स्थान नहीं। गुफा, मसान, शैल, कोटर में वह निशंक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रों आदि का भी वह भय नहीं करता। आत्मा की पर पदार्थों से रक्षा हो ही नहीं सकती। अतः उसे अनरक्ष्य भय भी नहीं। अगुप्ति भय में व्यवहार में माल असबाब के लुट जाने का भय रहता है तो सम्यक्त्वी निश्चय से विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नहीं सकता। मैं तो एक अखंड ज्ञान का पिंड हूं। जैसे नमक खारे का पिंड है। खारे के सिवाय उसमें और चमत्कार ही क्या है? वैसे ही इस आत्मा में चेतना के सिवाय और चमत्कार ही क्या है? यह चेतना निरन्तर हर समय में मौजूद बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्मा का ज्ञान में ही चितवन करता रहता है। एक होता है आकस्मिक भय। वह किसी भी आकस्मिक विपत्ति का भय नहीं करता। भय तो जब करे जब भय

की आशंका हो! उसकी आत्मा निरन्तर निर्भय रहती है। अतः उसे आकस्मिक भय भी नहीं होता। और एक मरण भय होता है।। मरण क्या कहाउता? दस प्राणों का वियोग हो जाना ही तो मरण है। पांच इन्द्रिय तीन बल एक आयु और एक श्वोच्छ्वास इनका वियोग होने से मरण हो जाता है। परन्तु वह अनाद्यानन्त नित्योद्योत ज्ञान-स्वरूपी अपने को चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन काल में उसका वियोग नहीं होता। अतः चेतना मयी ज्ञानात्मा को ध्यान से उसे मरण का भी भय नहीं होता। इस प्रकार सात भयों में वह किसी प्रकार भय नहीं करता। अतः पूर्ण तया निर्भय है।

अब सम्यक्त्व के अष्ट अंगों का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यक्त्वी को ये अंग भी पूर्णतया पलते हैं। पहिला है निःशंकित। उसे किसी प्रकार की भी शंका नहीं रहती। वह निधड़क होकर अपने ज्ञान में ही रमण करता है। सुकौशल स्वामी को व्याघ्री भक्षण करती रही पर वह निशंक होकर अंतर मुहूर्त में केवल ज्ञानी बने। शंका को तो उसके पास स्थान ही नहीं रहता। उसे आत्मा का स्वरूप भासमान हो जाता है। अतः निःशंकित हैं। दूसरा हैं निःकांक्षित आकांक्षा

करे तो क्या भो । की, जिसको वर्तमान में ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मी की चाहना करेगा? अरे, लक्ष्मी रांड कहीं भी स्थिर होकर रही है। तुम देखलो जिस जीव के पुण्योदय हुआ उसी के पास दौड़ी चली गई। अतः ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्न में भी नहीं चाहते। वे तो अपने ज्ञान दर्शन चारित्रमई आत्मा का ही सेवन करते हैं। निर्विचिकित्सा तीसरा अंग है। उसे ग्लानि तो होती ही नहीं। अरे, क्या मलसे ग्लानि करे? मल तो प्रत्येक शरीर में भरा पड़ा है। तनिक शरीर को काटो तो सिवाय ग्लानि के कुछ नहीं।

ईश्वरचन्द विद्यासागर जब वह कालेज जारहे थे तो रास्ते में एक नौकर को वमन करते देखा। उन्हें उस पर दया आगई और अपने कंधे पर बिठलाकर घर में ले आए। डाक्टर को उसी समय टेलीफोन किया कि एक आदमी को हैजे की बीमारी है अतः तुरन्त चले आओ। डाक्टर के आने पर वह अपनी माता और स्त्री से कह गया कि इसकी खूब सेवा करना। जब वह आदमी अच्छा होगया तो विद्यासागर ने उसे लेजाकर उस मालिक के सुपुर्द किया जिसका वह नौकर था और कहा कि अब इसकी तबियत अच्छी है इसे अपने पास रखलो। वह मालिक ईश्वरचन्द्र को देखकर बड़ा लज्जित हुआ। तब विद्यासागर

ने कहा—'कोई बात नहीं है, तुम्हे फुरसत नहीं होगी। मैंने इसका इलाज कर दिया है।' तब इस मौलवी ने उसके नाम से दस हजार रुपये जमा कराए और उससे कहा—तुम हमारी देहली पर बैठे रहा करो, तुम्हारे वास्ते और कुछ काम नहीं है। और उसको ५०) रुपये मासिक बांध दिये। तो यह है निर्विचिकित्सा अंग। किस पदार्थ से ग्लानि करे। सब परमाणु स्वतंत्र है। मुनि भी देखो भइया किसी मुनि को वमन करते देखकर ग्लानि नहीं करते और अपने दोनों हाथ पँसार देते है। अतः सम्यक्ती निर्विचिकित्सा अंग को भी पूर्णतया पालन करता है। चौथा है अमूढदृष्टि। मूढदृष्टि तो तभी है जब पदार्थों के स्वरुप को कोई न समझे। अनात्मा में आत्मबुद्धि रक्खे। पर सम्यक्ती के यह अंग भी पूर्णतया पलता है क्यों कि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है। उपगूहन पांचवा अंग है। वह अपने दोषों को नही छिपाता। अमोघवर्ष राजा ने लिखा भइया कि प्रछन्न पाप ही सब से बड़ा दोष है जिससे वह निरन्तर सशंकित बना रहता है।

एक राजा था। जब वह अशुचि ग्रह में जा रहा था तब उसे वहां एक सेव मिला और उठाकर

करे तो क्यों भी । की, जिसको वर्तमान में ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मी की चाहना करेगा? अरे, लक्ष्मी रांड कहीं भी स्थिर होकर रही है। तुम देखलो जिस जीव के पुण्योदय हुआ उसी के पास दौड़ी चली गई। अतः ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्न में भी नहीं चाहते। वे तो अपने ज्ञान दर्शन चारित्रमई आत्मा का ही सेवन करते हैं। निर्विचिकित्सा तीसरा अंग है। उसे ग्लानि तो होती ही नहीं। अरे, क्या मलसे ग्लानि करे? मल तो प्रत्येक शरीर में भरा पड़ा है। तनिक शरीर को काटो तो सिवाय ग्लानि के कुछ नहीं।

ईश्वरचन्द विद्यासागर जब वह कालेज जारहे थे तो रास्ते में एक नौकर को वमन करते देखा। उन्हें उस पर दया आगई और अपने कंधे पर विठलाकर घर में ले आए। डाक्टर को उसी समय टेलीफोन किया कि एक आदमी को हैजे की बीमारी है अतः तुरन्त चले आओ। डाक्टर के आने पर वह अपनी माता और स्त्री से कह गया कि इसकी खूब सेवा करना। जब वह आदमी अच्छा होगया तो विद्यासागर ने उसे लेजाकर उस मालिक के सुपुर्द किया जिसका वह नौकर था और कहा कि अब इसकी तबियत अच्छी है इसे अपने पास रखलो। वह मालिक ईश्वरचन्द्र को देखकर बड़ा लज्जित हुआ। तब विद्यासागर

एक निर्दोष आत्मा को ही ध्याता है। स्थितिकरण छठा अंग है। जब कोई अपने ऊपर विपत्ति आजाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रय से अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड़े तब अपने स्वरूप का चिंतवन कर लेवे और पुनः अपने को उसमें स्थित करले। व्यवहार में पर को गिरने में सँभाले। इस अंग को भी सम्यक्ती बिस्मरण नहीं करता। वात्सल्य अंग आठवां है। गो और वत्स का वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयों से करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्मा का ही है। सम्यक्ती समस्त प्राणियों से मैत्री भाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्र के रक्षा के भाव होते हैं। एक जगह लिखा है:—

> अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निज की है ऐसी गणना करना क्षुद्र चितवाले के है। जिनके उदार चरित्र है उनके तो पृथ्वी मात्र हमारा कुटुम्ब है।' सम्यक्ती भगवान की प्रतिमा के दर्शन करता है पर उसमें भी वह अपने स्वरूप की ही झलक देखता है। जैसा उनका चतुष्टय स्वरूप है वैसा मेरा भी है। ऐसी अपनी आत्मा से

एक निर्दोष आत्मा को ही ध्याता है। स्थितिकरण छठा अंग है। जब कोई अपने ऊपर विपत्ति आजाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रय से अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पडे तब अपने स्वरूप का चिंतवन कर लेवे और पुनः अपने को उसमें स्थित करले। व्यवहार में पर को गिरने में सँभाले। इस अंग को भी सम्यक्त्वी विस्मरण नहीं करता। वात्सल्य अंग आठवां है। गौ और वत्स का वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयों से करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्मा का ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियों से मैत्री भाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्र के रक्षा के भाव होते हैं। एक जगह लिखा है:—

> अयं परो निजोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निज की है ऐसी गणना करना क्षुद्र चित्तवाले के है। जिनके उदार चरित्र है उनके तो पृथ्वी मात्र हमारा कुटुम्ब है।' सम्यक्त्वी भगवान की प्रतिमा के दर्शन करता है पर उसमें भी वह अपने स्वरूप की ही झलक देखता है। जैसा उनका चतुष्टय स्वरूप है वैसा मेरा भी है। ऐसी अपनी आत्मा से

समता को अपनालो या चाहे तामस को। समता में सुख है तो तामस में दुख है। समता यदि आजायगी तो तुम्हारी आत्मा में भी शांति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

अब कहते हैं जो आत्मा और अनात्मा के भेद को नहीं जानता वह मिथ्याती है। और वास्तव में देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीवका भयंकर शत्रु है। यही चतुर्गति में रुलाने का कारण है। अष्ट कर्मों में यही मोह मिथ्यात्व बलवान है। मोक्ष-मार्ग से विपरीत परिणमन कराता है। जैसे दो मनुष्य हैं। पहिले को पूर्व की ओर जाना है, और दूसरे को पश्चिम की ओर। जब वे दोनों एक स्थान पर आए तो पहिले को दिक्‌भ्रम हो गया और दूसरे को लकवा लग गया। पहिले वाले को जहां पूर्व की ओर जाना चाहिए था किन्तु दिक्भ्रम हो जाने से वह पश्चिम की ओर जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्व की ओर जा रहा हूँ पर वास्तव में वह उस दिशा से दूर हो रहा है। और दूसरे लकवे वाले को हालांकि पश्चिम की ओर जाने में उतनी दिक्कत नहीं है क्योंकि उसे तो दिशा का परिज्ञान है। वह धीरे धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुँच ही जायगा। परंतु पहिले वाले को तो हो गया है दिक्भ्रम। अतः ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह

समता को अपनालो या चाहे तामस को। समता में सुख है तो तामस में दुख है। समता यदि आजायगी तो तुम्हारी आत्मा में भी शांति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

अब कहते हैं जो आत्मा और अनात्मा के भेद को नहीं जानता वह मिथ्याती है। और वास्तव में देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीवका भयंकर शत्रु है। यही चतुर्गति में रुलाने का कारण है। अष्ट कर्मों में यही मोह मिथ्यात्व बलवान है। मोक्ष-मार्ग से विपरीत परिणमन कराता है। जैसे दो मनुष्य हैं। पहिले को पूर्व की ओर जाना है, और दूसरे को पश्चिम की ओर। जब वे दोनों एक स्थान पर आए तो पहिले को दिक्भ्रम हो गया और दूसरे को लकवा लग गया। पहिले वाले को जहां पूर्व की ओर जाना चाहिए था किन्तु दिक्भ्रम हो जाने से वह पश्चिम की ओर जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्व की ओर जा रहा हूँ पर वास्तव में वह उस दिशा से दूर हो रहा है। और दूसरे लकवे वाले को हालांकि पश्चिम की ओर जाने में उतनी दिक्कत नहीं है क्योंकि उसे तो दिशा का परिज्ञान है। वह धीरे धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुंच ही जायगा। परंतु पहिले वाले को तो हो गया है दिक्भ्रम। अतः ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह

मां से झल्लाकर बोला 'क्या मां घर में एक भी गिलास चांदी का नहीं है यह पानी भी खराब लाकर रख दिया। वह वैद्य भी महा मूर्ख है जो उसने पीली ही दवाई दी।' ठीक यही हाल मिथ्यादृष्टि का होता है। वह शरीर के मरण में अपना मरण शरीर के जन्म में अपना जन्म और शरीर की स्थिति में अपनी स्थिति मान लेता है। कदाचित् गुरु का उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियों के सुख में ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करता है तो आगामी भोगों की वांछा से। संसार में वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिए बहिरात्मा कहलाता है ? मुझे यहां एक दृष्टान्त याद आ गयाः—

मथुराप्रसादजी थे। उनके साथ दो तीन आदमी और कहीं चले जा रहे थे तो रास्ते में एक मुसलमान को कुरान पढते हुए देखा। वहां और भी बहुत सी भीड़ लगी हुई थी। उस कुरान को सुनने के लिए मथुराप्रसादजी वहीं ठहर गए। मुसलमानों की बोली तनिक सुन्दर होती है। उनके साथियों ने मथुरादासजी से कहा—'अरे, यहां तो कुरान बच रही है—चलो पण्डितजी यहां से तुरन्त चलो।' पण्डितजी ने कहा—ज़रा ठहरो, थोड़ी पढ़ुत

कुरान सुनने दो। साथी बोले—'पण्डितजी! यहां तो कुरान बच रही है।' पण्डितजी ने कहा—'हां भाई, मालूम है—बहुत अच्छी कहता है।' साथियों ने पुन प्रश्न किया—पण्डितजी! आप तो देवशास्त्र गुरू के आराधक हैं, फिर यह कैसी अनुमोदना करते हो।' 'अच्छी बांचता है' पण्डितजी ने उत्तर दिया। उन्होंने पूछा—'कैसे'। वह बोले—'अरे भाई, तुम समझते नहीं हो, मिथ्यात्व के उदय में ऐसा ही होता है।'

अतः मिथ्यात्व के समान इस जीव का कोई अहित-कर नहीं। इसके समान कोई बड़ा पाप नहीं। यही जल के आने का सबसे बड़ा छिद्र है जो नाव को नदी में डुबोता है। इसी के ही प्रसाद से कर्तृत्व-बुद्धि होती है। इसलिए यदि मोक्ष की ओर रुचि है तो इस महान् अनर्थकारी विपरीत बुद्धि को त्यागो। पदार्थों का यथावत् श्रद्धान करो। देह में आपा मनना ही देह धारण करने का बीज है।

अब कहते हैं कि आत्मा स्वरूप से निर्मल एवं शुद्ध है। उसमें पाकृत कोई रागादिक विकार नहीं। और देखो आचार्यों ने चार द्रव्यों को तो शुद्ध स्वरूप ही बतलाया है केवल जीव और पुद्गल में विभाव परिणति कही है।

वैभाविक परिणति से दोनों का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध भी हो रहा पर यदि द्रव्यदृष्टि से विचारें तो विदित हो जायगा कि जीव का एक अंश भी पुद्गल में नहीं गया और पुद्गल का एक अंश भी जीव में नहीं आया। जैसे एक वस्त्र है। वह सूत और रेशम का बना हुआ है। बाह्य में वह अवश्य मिला हुआ एक वस्त्र दीख रहा है पर विचार करो तो उसमें सूत सूत है और रेशम रेशम ही है। दोनों भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य हैं। जीव का परिणमन जीव में है और पुद्गल का परिणमन पुद्गल में। पुद्गलादि द्रव्य जीव का कुछ बिगाड भला नहीं कर सकते। सब द्रव्य देखो स्वतंत्र है केवल अन्धकार में रज्जु का सर्प भान हो रहा है। और रज्जु कभी सर्प होती नहीं; यह भी सिद्धान्त है। वैसे ही हम अनादि से अनात्मा को आत्मा मान बैठे हैं, सो अनात्मा कभी आत्मा होता नहीं। यही अनादि से अज्ञान की भूल पड़ी है। उस पदार्थ को जैसे का तैसा जान ले जब समझो सम्यक्दृष्टि है। और भइया जिसने पदार्थ को समझ लिया उसके राग द्वेष होता नहीं। वह समझता है कि मैं किससे राग द्वेष करूं ; सब पदार्थ अपने अपने स्वभाव से परिणमन कर

रहे हैं। आत्मा का स्वभाव आत्मा में है वह दूसरी जगह है कहां ? हां, उसमें जो रागद्वेषादिक के विकल्प हैं; उन्हें हटाने का प्रयत्न है। जैसे गर्म पानी है। उसके शीत गुण की पर्याय उष्ण रूप है। तब उसे पुनः शीतल करने के लिए एक बर्तन में पसार कर पंखे से हवा कर देते हैं तो ठंडा हो जाता है क्योंकि शीतलता तो उसका स्वभाव ही है। वैसे ही ज्ञानादि गुणों में जो विकारी पर्याय रागद्वेष की हो रही है उन्हें हटाने की आवश्यकता है। शुद्ध स्वरूप में लाने की चेष्टा नहीं है।

कोई कहे कभी यह आत्मा शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ सो ऐसा नहीं है। कार्मण और तैजस शरीरों का संयोग अनादि से है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते हैं पुराने स्कंध छूटते हैं। जैसे स्वर्ण है। उसमें किट्टकालिमादि लगी हुई है और वह इसी तरह खदान में से निकाला गया। अब वह (स्वर्ण) कब से अशुद्धावस्था में है—यह कौन कह सकता है। इसीतरह अनादि से आत्मा अशुद्धावस्था में है। यदि शुद्ध होय तो फिर संसार कैसा ? सांख्य मत की तरह आत्मा को सर्वथा शुद्ध मत मानो। द्रव्य दृष्टि से शुद्ध और पर्याय से अशुद्ध है इसमें कोई विरोध नहीं। वर्तमान पर्याय उसकी

अशुद्ध ही माननी पडेगी इसलिए अशुद्धावस्था को मेटने का प्रयत्न है। जैसे सांटा है। उसमें मिश्री उतनी ही आकार में विद्यमान है। पहिले उसका रस निकाला जाता है। फिर उसे गाढा कर शक्कर आदि करके मिश्री बनाते हैं। तो यह क्यों? कितना उपद्रव करना पड़ता है। वैसे ही आत्मा तो शुद्ध है ही पर वर्तमान पर्याय अशुद्ध होने के कारण महाव्रत धरना, तपश्चरण आदि करना पड़ता है। कोई कहे कि आत्मा जब शुद्ध है तो रागादिक क्यों होते हैं? इसका उत्तर करते हैं कि रागादिक होना आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। जो स्वभाव होता है वह कभी मिटता नहीं है। पारिणामिक भाव जीव का सदा बना रहता है पर विभाव मिट जाता है। जैसे किसी ने मदिरा पान किया तो पागल हो गया और अंट संट बकने लगा। अब विचार करो क्या पागल होना उसका स्वभाव था? यदि स्वभाव था तो वह सदा पागल क्यों नहीं बना रहता? और जब नशा उतर जाता है तब ज्यों का त्यों हो जाता है। तो मालूम हुआ कि पागलपना उसका स्वभाव नहीं था, मदिरा के निमित्त से हुआ। वैसे ही जीव के रागादिक भाव पुद्‌गल के निमित्त द्वारा होते हैं लेकिन उसके स्वभाव नहीं हैं। यदि स्वाभाविक होते तो सदा बने

रहते। अतः मालूम पड़ता है कि औपाधिक है, पराश्रित है। पारिणामिक भाव सदा शाश्वत है इसलिए उपादेय है। क्रोधादिक परिणाम सब औदयिक है—कर्मों के उदय से होते हैं, अतः हेय है।

अब कहते हैं कि अध्यवसान ही बंध का कारण है। बाहिरी क्रिया कोई बंध का कारण नहीं है पर अन्तरंग में जो विकार भाव होते हैं वही बंध के कारण हैं। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे किसी ने किसी को मारडाला तो मारने से बंध नहीं हुआ पर अन्तरंग में जो उसके मारने के भाव हुए उससे बंध हुआ। कोई पूछे कि बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं है तो उसका निषेध किसलिए किया जाता है कि बाह्य वस्तु का प्रसंग मत करो, त्याग करो। उसका समाधान करते हैं कि बंध का कारण निश्चय नय कर अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तुएं अध्यवसान का आलम्बन है उनकी सहायता से अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिए अध्यवसान कारण कही जाती है। बिना बाह्य वस्तु निराश्रय अध्यवसान नहीं उपजता। इसी से बाह्य वस्तु का त्याग कराया गया है।

हम पर पदार्थों का त्याग करना ही सच्चा त्याग समझ लेते हैं। वास्तव में पर पदार्थ हमारा है कहां

जिसका हम त्याग करनें के हकदार कहलाते हैं, वह तो जुदा है। तो पर पदार्थ का त्याग त्याग नहीं। सच्चा त्याग अन्तरंग की मूर्छा है। हमने उस पदार्थ से मूर्छा हटाली तो उसका स्वतः त्याग हो गया। अतः प्रवृत्ति की ओर मत जाओ, निवृत्ति पर ध्यान दो। कोई कहता है कि हमने १०० रुपये का दान कर दिया। अरे मूरख, १०० रुपये तुम्हारे हैं कहां सो तुमने दान कर दिए। वे तो जुदे ही थे। अपनी तिजोड़ी से निकालकर दानशाला में धर दिए। तो रुपयों का त्याग करना दान देना नहीं हुआ पर अन्तरंग में जो तुम्हारी मूर्छा उन रुपयों के प्रति लग रही थी वह दूर हो गई। अतः मूर्छा का त्याग करना वास्तविक त्याग कहलाया। कोई कहता है कि हमने इतना परिग्रह का त्याग कर दिया, अमुक परिग्रह का प्रमाण कर लिया तो क्या वह परिग्रह का प्रमाण हो गया? नहीं। परिग्रह प्रमाणव्रत नहीं हुआ। परिग्रह प्रमाण व्रत तब हुआ जब तुम्हारी इच्छा उतनी कम हो गई। मन तुम्हारा जो दौड़ धूप कर रहा था उतने मन पर कन्ट्रोल हो गया। अतः इच्छा जितनी कम हुई उतना प्रमाण हुआ इसलिए त्याग कहलाया।

अब जो यह कहना कि 'मैं इसको जिलाता हूँ और

इसको मारता हूँ' तो आचार्य कहते हैं कि यह मिथ्या अभिप्राय है। कोई किसी को मारता जिलाता नहीं है। सब अपनी अपनी आयु से जीवित रहते हैं और आयु के निषेक पूरें होने से मरण को प्राप्त होते हैं। आचार्य कहते हैं 'अरे, क्या तेरे हाथ में आयु है जो तू दूसरे को जिलाता तथा मारता है? निश्चय नय कर जीव के मरण है वह अपने आयु कर्म के क्षय से होता है। और अपना आयु कर्म अन्य कर हरा नहीं जा सकता। इसलिए अन्य अन्य का मरण कैसे कर सकता है? इसी तरह जीवों का जीवित भी अपने आयु कर्म के उदय से ही है।

अब जिसका ऐसा मानना है कि मैं पर जीव को सुखी दुखी करता हूं, और मुझे पर जीव सुखी दुखी करते हैं यह भी मानना अज्ञान है। क्यों? सुख दुख सब जीवों का अपने कर्म के उदय से होता है, और वह कर्म अपने अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। इस कारण एक दूसरे को सुख दुख कैसे दे सकता है? मैना सुन्दरी को ही देखो! अपने पिता से स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने भाग्य का खाती हूं। उसके पिता ने श्रीपाल कुष्टी से उसका विवाह कर दिया। पर मैना ने सिद्ध चक्र का विधान रचकर उसका भी कोढ दूर कर दिया।

पर विचार करो 'क्या उसने पति का कोढ़ दूर किया ?' अरे, उसके पुण्य का उदय था उसका कोढ़ दूर हो गया। उसका मिलना था निमित्त, सो मिल गया। पर क्या वह ऐसा नही जानती थी ? अतः सब अपने अपने भाग्य से सुखी और दुखी है। समयसार में लिखा है:—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय ।
कर्मोदयान्मरण जीवित दुःख साख्यं ॥
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य ।
कुर्यात् पुमान् मरण जीवित दुःख सौख्यं ॥

इस लोक में जीवों के जो मरण जीवन, दुःख और सुख होते है वे सब स्वकीय कर्मों के उदय से होते हैं; ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते हैं कि पर के द्वारा पर के जीवन मरण दुःख और सुख होते हैं—यह अज्ञान है।

कोई कहे कि 'मैं इसको मोचन करता हूं और इसको बांधता हूं' तो यह भी मिथ्या है। तुमने अपना अभिप्राय तो ऐसा कर लिया कि 'येन मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूं; और 'येन बन्धयामि' मैं इसको बांधता हूं।' पर जिससे ऐसा कहा कि 'येन मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूं और उसने सराग परिणाम

कर लिया तो कहाँ वह मुक्त हुआ ? और जिसने ऐसा कहा कि 'येन बन्धयामि' मैं इसको बांधता हूं और उसने वीतराग परिणाम कर लिए तो वह मुक्त हो गया। और तुमने कुछ भी अभिप्राय नहीं किया। एक ने सराग परिणाम कर लिए और दूसरे ने वीतराग भाव कर लिए; तो पहिला बंध गया और दूसरा मुक्त हो गया। इसलिए यह बंधन क्रिया और मोचन क्रिया तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। तुम अपने पदार्थ के स्वामी हो और पर पदार्थ अपने का है। तुम दूसरे पदार्थ को अपने इच्छानुकूल परिणमाना चाहो तो वह त्रिकाल नहीं होता। अतः 'येन मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूं और 'येन बन्धयामि' मैं इसको बांधता हूं ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है और उल्टा कर्म का बंधन होता है। हां, तुम अपना अभिप्राय निर्मल रक्खो। दूसरा चाहे कुछ भी अभिप्राय रक्खे। और देखो सब अभिप्राय की ही बात है। निर्मल अभिप्राय ही मोक्ष-मार्ग है। तुम पाठ पूजन खूब करो पर अभिप्राय निर्मल नहीं तो कुछ नहीं। अब देखो तुम कहते हो न 'प्रभु पतित पावन।' अरे, प्रभु थोड़े ही पावन है। तुमने उतने अंश में अपने अभिप्राय निर्मल कर लिए, तुम ही पतित से पावन हो

गए। प्रभु क्या पावन होंगे। तुमने प्रभु को कारण बना लिया पर कार्य हुआ तुममें। इसीलिए दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं—

मुझ कारज के कारण जु आप।
सो करो हरो मम मोह ताप॥

और भइया भगवान की महिमा को कौन जान सकता है। भगवान की महिमा भगवान ही जाने। हम मोही जीव उनकी महिमा को क्या जान सकते हैं? तो प्रयोजनीय बात इतनी ही है कि पर पदार्थ हमारी श्रद्धा में आ जाय कि ये हमारी चीज नहीं है तो फिर संसार बंधन से छूटने में कोई बड़ी बात नहीं है। समझले रागद्वेषादिक परकृत विकार है, मेरे शुद्ध स्वभाव को घातने वाले हैं इसलिए छोड़ने का प्रयत्न करे। सम्यक्त्वी के यही श्रद्धान तो दृढ हो जाता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक समान है। ये जितने भी औपाधिक भाव होते हैं, वे मोह के निमित्त से होते हैं। अतः उन्हें छोड़ने का पूर्ण प्रयत्न करता है। हम लोग चारित्र के पालन में आतुर हो जाते हैं। अरे, चारित्र में क्या है? सब से बड़ी श्रद्धा है। भगवान आदिनाथ ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थी में व्यतीत कर दिए। एक पुत्र को हम बगल

में बिठाल रहे हैं दूसरे को दूसरी बगल में। नाना प्रकार की ज्योतिष और गणित विद्या भी बतला रहे हैं। यह सब क्या? परन्तु बन्धुओं, चारित्र मोह की मंदता हुई तो घर छोड़ते में देर न लगी। तो हमें चारित्र में इतना यत्न न करना चाहिए। चारित्र तो कालान्तर पाके हो ही जायगा। चारित्र पालने में उतनी बड़ाई नहीं है जितनी श्रद्धा लाने में। श्रद्धा में अमोघ शक्ति है। यथार्थ श्रद्धा ही मोक्ष मार्ग है। सम्यक्त्वी के श्रद्धा की हो तो महिमा होती है। वह पर पदार्थों का भोग नहीं करता सो बात नहीं है। पर श्रद्धा में जान जाता है कि 'अरे, यह तो पराई है।' अब देखिए लड़की जब पैदा होती है तब माँ अन्तरंग में जान ही तो जाती है कि यह पराई है; वह उसका पालन पोषण नहीं करती सो बात नहीं है। वह पालती है, उसे बड़ा करती है, उसका ब्याह भी रचाती है और जब पर घर जाने को होती है तब रोती भी है चिल्लाती है और थोड़ी दूर तक साथ भी जाती है, पर कब तक? यही हाल उसका होता है। वह भोग भोगता है, युद्ध करता है, अदालत में मुकदमा भी लड़ता है पर कब तक? और हम आप से पूछते हैं, उसके काहे के भोग हैं? बिल्ली चूहे को पकड़ लेती है और लाठी मारने पर भी नहीं

छोड़ता, भोग तो वह कहलाते हैं। और हरिण मुख में तृण लिए हुए है पर यों ताली फटकारी चौकडी भर कर भाग खड़ा हुआ तो वह काहे का भोग? भोग तो वही है जिसमें पूर्ण आशक्ति हो, उसमें उपादेय बुद्धि हो। अब मुनि को ही देखो। क्या उनको स्त्री परिष्या नहीं होती? होती है, पर जैसी हमको होती है वैसी उनको नहीं है। क्या उनको क्षुदा का वेदन नही होता? यदि वेदन नही होता तो आहार लेने के वास्ते जाते ही क्यों हैं? क्षुधा का वेदन होता है पर उस चाल का नही है। निरन्तराय भोजन मिला तो कर लिया नही तो वापिस लौट आते हैं। किसी कवि ने कहा है:—

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थ काममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि॥

यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध करते हो तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है, उसी पर क्रोध करना चाहिये क्योंकि वह धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का शत्रु है। अच्छा बतलाओ किस पर तोष रोष करे। हम जितने भी पदार्थ संसार में देखते हैं, सब अचेतन ही तो हैं और चेतन है सो दिखता नहीं है। जैसे हमने तुम पर क्रोध किया, तो क्रोध जिस पर किया वह तो अचेतन है और जिस पर

करना चाहते हो वह दिखता नहीं, अमूर्तीक है। अतः हमारी समझ में तो रागद्वेषादिक करना सब व्यर्थ है। अपना कल्याण करे दुनियां को न देखे। जो दुनियां को तो शिक्षा करे और अपनी ओर न देखे तो उससे क्या लाभ? अरे, अनादिकाल से हमने पर को बनाने की कोशिश की है और फिर भी पर को बनाने में अपने को चतुर समझते हैं तो उस चतुराई को धिक्कार है जो दूसरों को उपदेश करे व अपने आत्मा के हित का नाश करे। उस आंख से क्या लाभ जिसके होते हुए भी गड्ढे में गिर पड़े। उस ज्ञान से भी क्या जो ज्ञानी होकर विषयों के भीतर पड़ जावे। इसलिए केवल अपने को बनाए। जिसने अपने को नहीं बनाया वह दूसरों को भी क्या बना सकता है? अपने को बनाना ही संसार बंधन से छूटने का प्रयास है। यही मोक्ष की कुंजी है।

एक धुनियां था। वह कहीं काम से चला जा रहा था। मार्ग में उसने रूई से भरे जहाजों को आते हुए देख लिया। उसने सोचा 'हाय! यह तो मुझे ही धुननी पड़ेगी।' ऐसा सोचते ही घर में आकर वह बीमार पड़ गया। उसके लड़के ने पूछा—'पिता जी! क्या बात हो गई?' वह बोला—'कुछ नहीं! वैसे ही तबीयत खराब

होगई हैं।' लड़के ने बहुत डाक्टरों और वैद्यों का इलाज करवाया पर वह अच्छा न हुआ। अन्त में एक आदमी को मालूम पड़ा और उसने लड़के से पूछा—'तेरे पिताजी की कैसी तबीयत है?' वह बोला—कुछ नहीं, उन्होंने कहीं रुई से भरे हुए जहाजों को देख लिया है, इस कारण बीमार पड़ गए हैं। उस आदमी ने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही, शायद उसने समझा होगा कि यह रुई कहीं मुझे ही न धुननी पड़े। वह (प्रकट में) बोला—देखो, हम तुम्हारे पिताजी को अच्छा कर देंगे लेकिन १०० रुपये लेंगे। लड़के ने मंजूर कर लिया।

उस आदमी ने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मंत्र पढ़कर कुछ राख डाल कर धुनिया से बोला इस गिलास का पानी पी जाओ। उस धुनिए ने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो, उन रूई से भरे हुए जहाजों में आग लग गई।' इतना कहना था कि वह (धुनियां) झट बोल उठा—'क्या सचमुच उन जहाजों में आग लग गई।' उसने कहा—'हां'। तुरन्त ही वह भला-चंगा हो गया। इसी प्रकार हम भी पर पदार्थों को लक्ष्य कर यह सोच रहे हैं कि हमें यह करना है और वह

करना है—इस कारण रोगी बने हुए हैं। और जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें कुछ नहीं करना है। केवल अपने पद को पहिचानना है।

अब बतलाते हैं कि आत्मा का ज्ञान स्वभाव लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्य में पाया जावे। तो आत्मा का लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्मा की सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मा में अनंत गुण हैं जैसे दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख इत्यादि पर इन सब गुणों को बतलाने वाला कौन? एक ज्ञान ही है। मैं धनी, निर्धन, रंक राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है केवल एक ज्ञान। ज्ञान ही आत्मा का असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशों में अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञान में ही लीन रहते और परमानंद का अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थ से विचारो तो केवल ज्ञान के सिवाय अपना है क्या? शुभ पदार्थों का भोग करते हैं, व्यञ्जनादि के स्वाद लेते हैं उनमें ज्ञान का ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर होय तो सुन्दर से सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। तो उस ज्ञान की अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है।

जैसे दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं ? वैसे ही ज्ञान में ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं तो भी ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पण के सामने सेर गुंजार करता है तो क्या सेर दर्पण में चला जाता है ? नहीं। केवल दर्पण का परिणमन सेर के आकार अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगह पर है, सेर अपने स्थान पर है। उसी तरह ज्ञान में ज्ञेय झलकते हैं तो झलकों, उसका स्वभाव ही देखना और जानना है इसका कोई क्या करे ; हां रागादिक करना यही बंध का जनक है। हम इनको देखते हैं उनको देखते हैं और सबको देखते हैं तो देखो पर अमुक रुचि गया उससे राग और अमुक से अरुचि हुई उससे द्वेष कर लिया यह कहां का न्याय है ? बताओ। अरे उस ज्ञान का काम केवल देखना और जानना मात्र था सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टी पाई। ज्ञान को ज्ञान रहने देने का ही उपदेश है। उसमें कोई प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पना करने को नहीं कहा। पर हम लोग ज्ञान को ज्ञान कहां रहने देते हैं। मुश्किल तो यह पड़ी है।

भगवान को देखो और जानो। यदि उनसे राग कर लिया तो जाओ स्वर्ग में और द्वेष कर लिया तो पड़ो

नरक में। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हें देखो और जानो। जैसे प्रदर्शनी में वस्तुएँ केवल देखने और जानने के लिये होती है वैसे ही संसार के पदार्थ भी केवल देखने और जानने के लिए है। प्रदर्शनी में यदि एक भी वस्तु की चोरी करो तो बँधना पड़ता है उसी प्रकार संसार के पदार्थों को ग्रहण करने की अभिलाषा करो तो बंधन है; अन्यथा देखो और जानो। अभी स्त्री बीमार पड़ी है तो उसके मोह में व्याकुल होगए। दवाई लाने की चिन्ता होगई क्योंकि उसे अपनी मान लिया नहीं तो देखो और जानो। निजत्व की कल्पना करना ही दुख का कारण है।

'समयसार' में एक शिष्य ने आचार्य से प्रश्न किया—महाराज! यदि आत्मा ज्ञानीं है तो उपदेश देने की आवश्यकता नहीं और अज्ञानीं है तो उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं। आचार्य कहते हैं कि जब तक कर्म और नोकर्म को अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तब तक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी हो।

एक मनुष्य के यहां दामाद और उसका लडका आता है। लडका तो स्वेच्छा से इधर उधर पर्यटन करता है। परन्तु दामाद को यद्यपि अत्यधिक आदर होता है

तब भी वह सिकुड़ा सिकुड़ा सा घूमता है। अतएव स्वाश्रित बुद्धि ही कल्याणप्रद है। आचार्य ने वही एक शुद्ध ज्ञान-स्वरूप में लीन रहने का उपदेश दिया है। जैसा कि समयसार में लिखा है:—

पूर्णैकाच्युत शुद्ध बोध महिमा बोधोन बोध्यादयं ।
यायात्कामपि विक्रियां ततइतो दीपः प्रकाश्यादिव ॥
तद्वस्तुस्थिति बोधबंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो ।
रागद्वेषमयी भवंति सहजां मुंचत्युदासनितां ॥

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकार से रहित) ऐसे ज्ञानस्वरुप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थों से कुछ भी विकार को नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थों से विकार को नहीं प्राप्त होता उस तरह। ऐसी वस्तु की मर्यादा के ज्ञानकर रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं और रागद्वेषमय क्यों होते हैं? ऐसा आचार्य ने सोच किया है।

कुछ लोग ज्ञानावरणी कर्म के उदय को अपना घातक मान दुखी होते हैं। तो कहते है कि कर्म के उदय में दुखी होने की आवश्यकता नही है। अरे

जितना क्षयोपशम है उसी में आनंद मानो। पर हम मानते कहां हैं ? सर्वज्ञता लाने का प्रयास जो करते हैं। अब हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञता में क्या है ? हमने इतना देखलिया और जान लिया तो हमें कौनसा सुख होगया ? तो देखने और जानने में सुख नहीं है। सुख का कारण उनमें रागादिक न होने देना है। सर्वज्ञ भी देखो अनंत पदार्थों को देखते और जानते है पर रागादिक नहीं करते इसलिये पूर्ण सुखी है। अतः देखने और जानने की महिमा नही है। महिमा तो रागादिक के अभाव में ही है।

लेकिन हम चाहते है कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुख का अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे बने ? मूली खाओ और केशर का स्वाद भी आ जाय ; यह कैसे हो सकता है। रागादिक तो दुख के ही कारण हैं ; उसमें यदि सुख चाहो तो कैसे मिल सकता है ? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादि काल से हमने आत्मा के उस स्वाभाविक सुख का स्वाद नही जाना इसीलिये राग के द्वारा उत्पन्न किंचित सुख उसी को ही वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते हैं कि अरे उस सुख का कुछ तो अनुभव करो।

अब देखो, कड़वी दवा को मां कहती है न 'बेटा इसे आंख मूंच कर पी जाओ।' अरे, आंख मीचने से कहीं कड़वापन तो नहीं मिट जायगा। पर कहती है कि बेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुख का किञ्चित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि बच्चों से मोह छोड़ना न पड़े और उस सुख का अनुभव भी हो जाय। हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा ही आ जाय। अच्छा, बच्चों से मोह मत छोड़ो तो उस स्वात्मीक सुख का तो घात मत करो। पर क्या है? उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिए दुख के पात्र हैं।

और भइया, ऐसी बात नहीं है कि किसी को रागादिक घटते न होंय। अभी संसार में ऐसे प्राणी हैं जो रागादिक छोड़ने का शक्ति भर प्रयास करते हैं। पर सिद्धान्त यही कहता है कि रागादिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुखदायी समझकर त्याग दिया, वही हम तो कहते हैं 'धन्य है'। कहने सुनने से क्या होता है? इतने जनों ने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सबके रागादिकों की निवृत्ति होगई? अब देखो आल्हा ऊदल की कथा बांचते हैं तो वहां कहते हैं यों मारा, यों काटा पर यहां किसी के एक तमाचा तक नहीं लगा। तो केवल कहने से

कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए बस उसी को मजा है। जैसे कंदोई मिठाई तो बनाता है पर उनके स्वाद को नहीं जानता। वैसे ही शास्त्र बांचना तो मिठाई बनाना है पर जिसने चख लिया बस उसी को ही मजा है।

अब कहते हैं कि आत्मा में अनन्त शक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्य का प्रकाश मेघपटलों से आच्छादित होने पर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मों के आवरण से आत्मा की अनन्त शक्तियां प्रकट नहीं होती। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियां पूर्णरूपेण विकसित हो जाती है। देखो, निगोद से लेकर मनुष्य पर्याय धारण कर मुक्ति के पात्र बने इससे आत्मा की अचिन्त्य शक्ति ही तो विदित होती है। अतः हमें स्व (आत्मा) को जानने का अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए। जैसे बालक मिट्टी के खिलोने बनाते और फिर बिगाड़ देते हैं वैसे ही हम ही ने संसार बनाया और हम ही यदि चाहें तो संसार से मुक्त हो सकते हैं। एक स्थान पर लिखा है :-

संकल्प कल्पतरु संश्रयणा त्वदीयं।
चेतो निमज्जति मनोरथ सागरेस्मिन ॥

तत्रार्थस्तव चकास्ति न किञ्चनापि ।
पक्षे परं भवसि कल्मष संश्रयस्य ॥

हम नाना प्रकार के मनोरथ करते हैं । अरे, उनमें से एक मनोरथ मुक्ति का भी सही । वास्तव में हमारे सब मनोरथ बालू की भीति की भांति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदय की विचित्रता है । जहां मोह गला वहां कोई मनोरथ नहीं रह जाता । हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि भगवान हमारे पाप क्षमा करना । अरे, भगवान तुम्हारे पाप क्षमा करें । पाप करो तुम भगवान क्षमा करें-यह भी कहीं का न्याय है । कोई पाप करे और कोई क्षमा करे । उसका फल भइया उसही को भुगतना पड़ेगा । भगवान तुम्हें कोई मुक्ति नहीं पहुंचा देंगे । मुक्ति जाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा । यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है । एक पुरुष था । उसकी स्त्री का अकस्मात् देहान्त होगया । वह बड़ा दुखी हुआ । एक आदमी ने उससे कहा अरे, 'बहुतों की स्त्रियाँ मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है ? वह बोला-तुम समझते नहीं हो । उसमें मेरी मम बुद्धि लगी है इसीलिए मैं दुखी हूँ । दुनियाँ की स्त्रियां मरती हैं तो उनसे मेरा ममत्व नहीं-इसही में मेरा

ममत्वथा। उसी समय दूसरा बोला 'अरे, तुझमें जब अहंबुद्धि है तभी तो मम बुद्धि करता है। यदि तेरे में अहंबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे? तो अहंबुद्धि और ममबुद्धि को मिटाओ पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है, उसे तो जानो। देखो लोक में वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गांव का नाम, अपने व्यवसाय का नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थ से वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आप को न जानता हो। इसलिए अपने को जानो। तुम हो जभी तो सारा संसार है। आंख मूंचलो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पँच्चेन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में क्यों नहीं प्रवर्तती? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मा में एक चेतना का ही चमत्कार है। उस चेतना को जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोह से ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक मनुष्य ने अपनी स्त्री से कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ। हम अभी खाने को आते हैं। जरा बाजार हो आएं। अब मार्ग में चले तो वहां मुनिराज का हो गया समागम। उपदेश पाते ही वह भी मुनि होगया। और वेही मुनि बनकर आहार के वास्ते वहां आगए।

तो देखो उस समय कैसा अभिप्रायथा। अब कैसे भाव हो गए चक्रवर्ती को ही देखो। वह छः खंड को मोह में हो तो पकड़े हैं। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूति को छोड़ वनवासी बन जाता है। तो देखो उस इच्छा को ही तो वह मिटा देता है कि 'इदम मम' यह मेरी है। वह इच्छा मिट गई अब छः खंडको बताओ कौन सँभाले ? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे ? इच्छा को घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज हो नहीं है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवें तो उसे कौन दे ? अरे उसके पुण्य का उदय होयगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है ? वास्तव में तो कोई किसी की चीज नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करना है। अभिमान को मिटा करके अपनी चीज मानना हो बुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरे की चीज को अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है ? जो चीज तुम्हारी है उसी में सुख मानो।

महादेवजी के कार्तिकेय और गणेश नामक दो पुत्र थे। एक दिन महादेवजी ने उनसे कहा' 'जाओ, वसुन्धरा की परिक्रमा कर आओ'। तब कार्तिकेय और

गणेश दोनों हाथ पकड़ कर दौड़े । गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गए । गणेशजी ने यहीं पर महादेवजी की ही परिक्रमा करली । जब कार्तिकेय लौटे और महादेवजी ने गणेशजी की ओर संकेत कर कहा 'यह पहिले आए' तो कार्तिकेय ने पूछा 'यह पहिले कैसे आए। बताइए।' उसी समय उन्होंने अपना मुंह फाड़ दिया जिसमें तीनों लोक दिखने लगे। महादेवजी बोले 'देखो, इन्होंने तीनों लोकों की परिक्रमा करली।' तो भइया उस केवल ज्ञान की इतनी ही बड़ी महिमा है जिसमें तीनों लोकों की चराचर वस्तुएं भासमान होने लगती हैं। हाथी के पैर में बताओ किसका पैर नहीं समाता। ऊंट का घोड़े का सबों का पैर समा जाता है। अतः उस ज्ञान की बड़ी शक्ति है। और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपने को जानें। पर पदार्थों से अपनी चित्तवृत्ति को हटाकर अपने में संयोजित करें। देखो समुद्र से मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानी के रूप में बरस पड़ते हैं। तो पानी का यह स्वभाव होता है कि वह नीचे की ओर ढलता है। पानी जब बरसा तो देखो रास्ते किनारे मैदान सबका होता हुआ

फिर उसी समुद्र में जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोह में जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रही थी ज्योंही वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपने में सिकुडकर अपने में ही समा जाती हैं। यों ही केवल ज्ञान होता है। ज्ञान को सब पर पदार्थो से हटाकर अपने में ही संयोजित कर दिया—बस केवल ज्ञान हो गया। और क्या है?

हम पर पदार्थों में सुख मानते है। पर उसमें सच्चा सुख नही हैं। मड़ावरा की बात है। वहां से ललितपुर ३६ कोष की दूरी पर पडता है। वहां सर्दी बहुत पड़ती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीच में उन्हें अधिक सर्दी मालूम हुई तो उन लोगों ने जंगल से घास फूस इकट्ठा किया और उसमें दियासलाई लगा आंच से तापने लगे। ऊपर वृक्षों पर बन्दर बैठे हुए यह कौतुक देख रहे थे। जब वे यात्री लोग चले गए तो बन्दर ऊपर से उतरे और उन्होंने वैसा ही घास फूस इकठ्ठा कर लिया। अब कुछ घिसने को चाहिए तो दियासलाई की जगह वे जुगनू को पकड़कर लाए और घिसकर डाल दें पर आंच नहीं सुलगे। बार बार वे उन्हें पकडकर लाए और फिर घिसकर

डाल दे पर आंच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह पर पदार्थों में सुख मिले तो कैसे मिले। वहां तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलता में सुख कहां ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिर में पूजा करे और फिर शास्त्र श्रवण करे। तो जब तक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तब तक तुम्हें सुख नहीं क्योंकि आकुलता लगी है। उसी आकुलता को मिटाने के लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हें दुकान खोलने की आकुलता हुई। दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य है सब आकुलता को मेटने के वास्ते हैं। तो आकुलता में सुख नहीं। आत्मा का सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मा में ही विद्यमान है। एक क्षण पर पदार्थों से राग द्वेष हटाकर देखो तो तुम्हें आत्मा में निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं अब कार्य करे और फल बाद को मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हें सुख की प्राप्ति होगी। आत्मा की विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है। और जितना पढना लिखना है उसी आत्मा को पहिचानने के अर्थ है। कहीं किताबों से भी ज्ञान

प्राप्त होता है। ज्ञान तुम्हारी आत्मा में है। पुस्तकों का निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है। वैराग्य कहीं नहीं धरा ? तुम्हारी आत्मा में ही विद्यमान है। अतः जैसे बने वैसे उस आत्मा को पहिचानो।

एक कोरी था। उसे कहीं से एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नहीं। वह कभी सिर से उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी हाथ डालकर पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमर से लपेट लेता तो भी ठीक नहीं बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामे में और दूसरा दूसरे में डाला तो ठीक बैठ गया। बड़ा खुशी हुआ। इसी तरह हम भी इतस्ततः भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरुप का ज्ञान होता है तभी हमें सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए उसकी प्राप्ति का निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

अब कहते हैं कि आत्मा को रागादिक परिणाम ही दुखदायी है। राग का किञ्चित् सद्भाव भी मनुष्य के लिए अहितकर है। जैसा कि लिखा है:—

यस्य रागाद्य ज्ञान भावानं लेशतोऽपि विद्यते सद्भावः सश्रुत केवलि सदृशोऽपि तथापि ज्ञानमय भावानामभावेन न जानात्यात्मानम यस्त्वामानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूप पररूप सत्ता सत्ताभ्यामेकस्थनि वस्तुनों निश्चियमानस्वात् ।

जिस जीव के रागादि अज्ञान भाव का लेशमात्र भी सद्भाव है वह श्रुत केवली के सदृश भी ज्ञानी है तो भी ज्ञानमय भाव के अभाव से आत्मा को नहीं जानता है ।

लोग कहते हैं कि नरकों में इतनें बड़े दुःख है, वहां के समान दुख और कहीं नहीं पर यह तो परोक्ष की बात हुई। हम तो कहते कि प्रत्यक्ष ही राग दुःख का कारण है । हम सब दुखी हो रहे हैं केवल एक राग से ही । अभी सब पदार्थों से राग हटालो तो उसी क्षण हमें सुख का अनुभव हो जायगा । स्वर्गों में हम सुख की कल्पना करते हैं पर वर्तमान में ही यदि राग की मंदता हो तो सुख का अनुभव हो जाय । तो भइया, अपनी ओर दृष्टिपात करो और बिचार करो कि हम में कितना राग कम हुआ । दुनियां की ओर मत देखो। अपनें को आकुलता होती है तो दुनियां को आकुलित देखतेहैं ।

भगवान के कोई प्रकार की आकुलता नही उन्होंने अपने को बनाया इसलिये दुनियाँ से उन्हे कोई सरोकार नहीं। अपना स्वभाव दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। मोक्षार्थी को केवल उन्हीं का सेवन करना चाहिये। तदुक्तं—

दर्शनज्ञानचारित्र त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्ष मार्गो मुमुक्षणा॥

मोह में मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशे में यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता? देखिए, जब आदिनाथ भगवान ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थी में रह कर बिता दिए तब इन्द्र ने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभु को भोगों से विरक्त करना चाहिये जिससे अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण होय। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प थी—सभा में नृत्य करने के वास्ते खड़ी करदी। ज्योंही वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई त्योंही इन्द्र ने तुरन्त उसी वेश-भूषा की दूसरी अप्सरा खड़ी करदी ताकि प्रभु के भोगों में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। परन्तु भगवान तीन ज्ञान संयुक्त तुरन्त इस दृश्य को ताड़ गए और मन में उसी अवसर पर वैराग्य का चिन्तवन करने लगे कि धिक्कार है इस

दुःखमय संसार को जिसमें रहकर मनुष्य भोगों में बेसुध होकर किस प्रकार अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत कर देता है। इतना चिन्तवन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्य में सने हुए जीव) आए और प्रभु के वैराग्य की दृढ़ता के हेतु स्तुति करते हुए—धन्य है प्रभु! आपने अच्छा विचार किया। आप जयवंत होउ। हे त्रिलोकीनाथ, आप चारित मोह के उपशम तैं वैराग्य रूप भए हो। आप धन्य हो। इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानक को चले गए परन्तु मोही इन्द्र फिर प्रभु को आभूषण पहिनाने लगा और पालकी सजाने लगा। अरे, जब विरक्त करवाने का ही उसका विचार था तो फिर आभूषणों के पहिनाने की क्या आवश्यकता थी। विरक्त करवाता ही जारहा है और आभूषण पहिनाता ही जा रहा है। यह भी क्या न्याय है? पर मोही जीव बताओ, भइया क्या करे। मोह में तो मोह की सी बातें सूझती है। उसमें ऐसा ही होता है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगत का चक्र केवल एक मोह के द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो जाय तो आज ही जगत का अन्त

आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहट की चक्की है। एक आठ पहियों की चक्की होती है। उसको खींचने वाले दो बैल होते हैं और उनको चलाने वाला मनुष्य होता है। उसी तरह मनुष्य है मोह। वे दोनों बैल हैं राग-द्वेष-उससे यह अष्ट-कर्मों का संसार है जिससे चतुर्गति संसार में यह प्राणी भटकता है।

एक मनुष्य था। वह किसी तेली का हंडा सिर पर लादे हुए उसके साथ चला जारहा था। मार्ग में वह सोचता जाता था कि इन पैसों से मैं एक मुर्गी लूंगा। मुर्गी से होंगे बच्चे, उन्हें बेचकर फिर एक बकरी खरीदूंगा- उस बकरी से जो बच्चे होंगे, उन्हें बेचकर एक गाय क्रय करूंगा। गाय से भी बच्चे होंगे तो उन्हें बेचकर फिर मैं अपनी शादी कर लूंगा। तदनन्तर एक मकान खरीदूंगा और उसमें आराम से जीवन बिताऊँगा। कालान्तर में मेरे भी बच्चे होंगे और वे परस्पर खूब खेलेंगे, कदाचित् झगड़ेंगे भी। झगड़ते झगड़ते जब वे मेरे पास आवेंगे तो मैं उनके यों तमाचा लगाऊँगा। हाथ का उठाना हुआ कि मटकी का झट गिरना हुआ। उसी समय तेली कहने लगा-'क्योंजी! तुमने हमारी मटकी फोड़ डाली।' तब वह क्रोध में बोल उठा-'तुम्हारी मटकी फूटी तो क्या हुआ;

यहाँ तो सारी गृहस्थी नष्ट होगई।' तो मनुष्य शेष-चिल्ली सी नाना प्रकार की कल्पनाएँ किया करता है। यह सब मोह के उदय की बलवत्ता है। जहाँ मोह नहीं है वहाँ एक भी मनोरथ नहीं रह जाता। अतः 'मोह की कथा अकथ और शक्ति अजेय है।'

अब कहते हैं कि मनुष्य को पर पदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखना चाहिये। कर्तापने में बड़ा दोष है। जब तक इस जीव के अहंकार (कर्तापने) की बुद्धि रहती है तब तक यह अज्ञानी है, अप्रतिबुद्ध है। इसकी प्रवृत्ति से बंध है तथा उसकी संतान से अज्ञान है। मैं मैं करती हुई बेचारी बकरी बधावस्था को प्राप्त होती है और मैना राजाओं के करों द्वारा पाली जाती है। तो अज्ञानता में बड़ी भूल है। एक मनुष्य अज्ञानी गुरु के उपदेश से छोटे से भुँहिरे में बैठ के भैंसे का ध्यान करने लगा और अपने को भैंसा मानके दीर्घ शरीर के चिंतवन में आकाश पर्यंत सींगों वाला बन गया तब इस चिंता में पड़ा कि भुँहिरे में से मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा? ठीक यही दशा जीव की अज्ञान के निमित्त से होती है जो आपको वर्णादि स्वरूप मान के देवादिक पर्यायों में आपा मानता है। भैंसा माननें वाला यदि अपने को भैंसा

माने तो आखिर मनुष्य बना ही है। इसी प्रकार देहादिक पर्यायों को भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा आप बना ही है। तदुक्तम्—

"वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः" इस पुरुष अर्थात् आत्मा के वर्णादि रागादि अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मा से) भिन्न है।

अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वभाव नहीं। आत्मा में कर्तापना नहीं है सो बात नहीं है। कर्तापना है, पर उसका स्वभाव नहीं है। अज्ञान से कर्तापने की बुद्धि हो जाती है। जब ज्ञानी हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता है। वह जानता है अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। सब अपने अपने स्वभाव के कर्ता है। देखिए कुम्हार घडे को बनाता है। हम आप से पूछते हैं—कुम्हार ने घड़े में क्या कर दिया? मिट्टी में घड़े बनने की योग्यता थी जभी तो कुम्हार निमित्त हुआ। यदि मिट्टी में योग्यता न हो तो देखें बालू में से तो घड़ा बन जाय। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टी में ही घडा बनने की योग्यता थी जभी घडे की शकल बनी। तो हम लोग उपादान की ओर दृष्टिपात न कर केवल निमित्तों को देखते हैं सो यह अज्ञान है।

अब देखिए, स्त्री ने यों आटा गूंधा, उसकी लोई बनाई और लोई को लेकर चकले पर वेल दिया। विस्तार हुआ तो उस लोई में उस स्त्री के हाथ में से क्या चला गया? उसने केवल इधर उधर हाथ अवश्य कर दिए। तो इससे सिद्ध होता है कि रोटी का परिणमन रोटी में हुआ और स्त्री का परिणमन स्त्री में। स्त्री ने रोटी में कुछ नहीं कर दिया पर व्यवहार से हर कोई कहता है कि स्त्री ने रोटी बनाई। और भी जुलाहे ने यों ताना वाना आतान वितान किया और कपड़ा बन गया। कपड़े का क्रिया कपड़े में हुई और जुलाहे की क्रिया जुलाहे में। पर व्यवहार से ऐसा कहते हैं जुलाहे ने कपड़ा बनाया। इसी तरह पुद्गल कर्म को परमार्थ से पुद्गल द्रव्य ही करता है और पुद्गल कर्म के होने के अनुकूल अपने रागादि परिणामों को जीव करता है उसके निमित्त नैमित्तिक भाव को देखकर अज्ञानी के यह भ्रम होता है कि जीव ही पुद्गल कर्म को करता है। सो अनादि अज्ञान से प्रसिद्ध व्यवहार है। जब तक जीव पुग्दल का भेदज्ञान नहीं होता तब तक दोनों की प्रवृत्ति एक सरीखी दीखती है। इस कारण जब तक भेदज्ञान हो तबतक दीखती है।

समयसार की टीका में लिखा है—पुग्दल कर्म को जीव जानता है तो भी उसका पुग्दल के साथ कर्ता कर्म भाव

नहीं है क्योंकि कर्म तीन प्रकार से कहा जाता है । या तो उस परिणाम रूप आप परिणमें वह परिणाम । या आप किसी को ग्रहण करे वह वस्तु । या किसी को आप उपजावै वह वस्तु । ऐसे तीनों ही तरह से जीव अपने से जुदे पुग्दल द्रव्य रूप परमार्थ से नहीं परिणमता क्योंकि आप चेतन हैं पुग्दल जड़ है, चेतन जड़ रूप नहीं परिणमता । पुग्दल को ग्रहण भी परमार्थ से नहीं करता क्योंकि पुग्दल मूर्तीक है आप अमूर्तीक है अमूर्ती का ग्रहण योग्य नही है । तथा पुग्दल को आप परमार्थ से आप उपजाता भी नहीं क्योंकि चेतन जड़ को किस तरह उपजा सकता है । इस तरह पुग्दल जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं । जीव का स्वभाव ज्ञाता है वह आप ज्ञान रूप परिणमता उसको जानता है । ऐसे जानने वाले का पर के साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

आत्मा के परिणाम आत्मा में होते हैं और पुग्दल के पुग्दल में । वह तीन काल में उसका कर्ता होता नहीं । यदि आत्मा पुग्दल कर्म को करे भोगे तो वह आत्मा दो क्रिया से अभिन्न ठहरे सो ऐसा जिनदेव का मत नहीं । आत्मा दो का कर्ता होता नहीं

कर्ता कहते हैं वे मिथ्यादृष्टि है। और भी लिखा है—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दुण संकमदि दव्वे।

सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥

जो द्रव्य जिस अपने द्रव्य स्वभाव में तथ जिस गुण में वर्तता है वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण रूप नहीं होता पलटकर अन्य में नहीं मिल जाता वह अन्य में नहीं मिलता हुआ उस अन्य द्रव्य को कैसे परिणमा सकता है, कभी नहीं परिणमा सकता। आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को तथा गुण को नहीं करता; उसमें उन दोनों को नहीं करता हुआ उसका वह कर्ता कैसे हो सकता है।

कोई पूछे यह जीव फिर संसारी क्यों? तो बतलाते हैं कि इस जीव के अनादिकाल से मोहयुक्त होने से उपयोग के तीन परिणाम है वे मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति है। जैसे स्फटिक शुद्ध था पर हरित, नील और पीतादि की डाक लगाने से वह तीन रूप परिणमन करता है। वैसे ही इन तीनों में से जिस भाव को यह आत्मा स्वयं करता है उसी का वह कर्ता होता है। संसार में भी देखलो जब यह जीव मदिरा पीकर मतवाला हो जाता है तो मूर्तीक द्रव्य से भी अमूर्तीक में विकार परिणाम हो जाता है। इस तरह यह आत्मा अज्ञानी हुआ किसी से राग किसी से

द्वेष करता हुआ उन भावों का आप कर्ता होता है। उसको निमित्त मात्र होने पर पुग्दल द्रव्य आप अपने भाव कर कर्मरूप होके परिणमता है। और देखो, वेश्या ने यहां नैन मटकाए, वहां तुम प्रशन्न होगए और अंटी में से रूपऐ निकाल कर दे दिए। अब क्या वेश्या नें तुमसे कहा था? और भी—रण में वैद का बाजा यहां बजता है और योद्धाओं में वहां मारकाट शुरू होजाती है। यह बात प्रत्यक्ष है। तब यदि आत्मा के भावों का निमित्त पाकर पुग्दल द्रव्य कर्मपने रूप परिणमन कर जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

जीव और पुग्दल परिणामों का परस्पर निमित्तमात्रपना है। तो भी परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है तथा मृतिका जैसे कपडे की कर्ता नहीं है वैसे अपने भाव कर पर के भावों के करने के असमर्थपने से पुग्दल के भावों का तो कर्ता कभी नहीं है।

ज्ञान की अद्भुत महिमा है। ज्ञान ज्ञेय को जानता है इसलिए ज्ञान नहीं है। अग्नि लकडी को जलाती है इसलिए अग्नि नहीं है। कांटों में तीक्ष्णपना कौन लाया? नीम में कडुआपन कहां से आया? अरे, वह तो स्वभाव से ही है। इसी तरह ज्ञान भी सहज स्वपर प्रकाशक है। वह अपनें को जानता

है तथा पर को भी जानता है पर अनादि काल से यह जीव ज्ञेय-मिश्रित ज्ञान का अनुभवन कर रहा है। जैसे हाथी मिष्ट पदार्थों तथा तृणों को एक साथ खाता है वैसे ही यह जीव मिश्रित पदार्थों के स्वाद में आनंद मानता है। कभी एक निखालिश ज्ञान का स्वाद नहीं लेता।

भावार्थ—कर्म के निमित्त से जीव विभाव रूप परिणमते हैं वे जो चेतन के विकार हैं वे जीव ही हैं और पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्म रूप परिणमते हैं वे पुद्गल के परमाणू हैं तथा उनका विपाक उदय रूप हो स्वाद रूप होते हैं वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि जीव अजीव के भेद से दो प्रकार हैं। यहाँ पर ऐसा है जो मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियाँ हैं वे पुद्गल द्रव्य के परमाणू हैं उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीव के उपयोग की स्वच्छता के कारण जिसके उदय का स्वाद आए तब उसी के आकार उपयोग हो जाता है तब अज्ञान से उसका भेद ज्ञान नहीं होता, उस स्वाद को ही अपना भाव जानता है। सो इसका भेद-ज्ञान ऐसा है कि जीव भाव को जीव जाने अजीव भाव को अजीव जाने तभी मिथ्यात्व का अभाव होके सम्यक्ज्ञान होता है।

कोई कहे यदि व्याप्य व्यापक भाव से कर्ता कर्म का

सम्बन्ध नहीं तो निमित्त नैमितक से तो है। सो कहते हैं जो कुछ घटादिक तथा क्रोधादिक पर द्रव्य स्वरूप प्रगट कर्म देखे जाते हैं उनको यह आत्मा व्याप्य व्यापक भाव कर नहीं करता। जो ऐसे करे तो उनसे तन्मयपने का प्रसग आए। तथा निमित्त नैमित्तक मात्र कर भी नहीं करता। क्योंकि ऐसे करे तो सदा सब अवस्थाओं में कर्तापने का प्रसग आजाय। इन कर्मों को कौन करता है सो कहते हैं-इस आत्मा के योग (मन वचन काय के निमित्त से प्रदेशों का चलना) और उपयोग (ज्ञान का कषायों से उपयुक्त होना) ये दोनों अनित्य हैं सब अवस्थाओं में व्यापक नहीं है। वे उन घटादिक के तथा क्रोधादि पर द्रव्य स्वरूप कर्मों के निमित्त मात्र कर कर्ता कहे जाते हैं। योग तो आत्मा के प्रदेशों का चलन रूप व्यापार है और उपयोग आत्मा के चैतन्य का रागादि विकार रूप परिणाम है। इन दोनों का कदाचित्काल अज्ञान से इनको करने से इनका आत्मा को भी कर्ता कहा जाता है परन्तु पर द्रव्य स्वरूप कर्म का तो कर्ता कभी भी नहीं है ऐसा निश्चय है।

गीता में लिखा है :—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

अर्थात् मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है ; उसके फल में नहीं । कर्म करो परन्तु उसके फल की आशा मत करो । तो जैनधर्म कहता है कि फल की आशा तो तब करे जब कोई कर्म करे । कोई कर्म ही मत करो ; किसी पदार्थ में कर्तृत्व बुद्धि ही तुम मत रखो । फल की आशा तो दूर रही तुम किसी द्रव्य के कर्ता हो नहीं हो यह जैनधर्म की अपनी एक निजी विशेषता है ।

और तो और—भगवान भी तत्वों के कर्ता (बनानेवाले) नहीं हैं । जैसे सूर्य पदार्थों को बनानेवाला नहीं है, प्रकाशनेवाला है ; वैसे ही भगवान भी तत्वों को प्रकाशनेवाले हैं, बनानेवाले नहीं हैं ।

अतः जो भी कार्य हो उसमें कर्तृत्व बुद्धि को त्यागो और नित्योद्योत ज्ञानानंदमयी अपनी आत्मा को पिछानो । इसको जाने बिना हम अनादिकाल से पंच परावर्तन के पात्र बने । और जब तक नहीं जानेंगे तब तक भ्रमण नहीं मिटेगा । अब सुधर्म सुकुल पाकर के प्रमाद नहीं करना चाहिए । अपनी चीज अपने ही पास है । वह अन्यत्र कहीं नहीं है । एक आदमी ने एक से ऐसा कहा ‘अरे, तेरा कान कौआ ले गया ।’ वह बेतहाशा होकर कौओ के पीछे दौड़ा । दूसरे ने दौड़ने का कारण पूछा । उसने कहा एक अच्छे

आदमी ने कहा है कि कौआ कान लेगया। पर मूर्ख ने अपना हाथ उठाकर अपने कान पर नहीं देखा। कान कहाँ चला गया था। अपने पास ही तो है। वैसे ही हम भी मोह में फंसकर संसार दौड़ की होड़ लगा रहे हैं पर मुक्ति यों कदापि न मिलेगी जब तक हम अपनी ओर दृष्टिपात न करेंगे। संसार में जन्म लेना तभी सफल है जब हम उस आत्मा को जानेंगे और जानने का प्रयत्न करेंगे।

१५ या २० मिनट अवश्य आत्म चिंतवन में लगाओ। उतना ही अनुभव करो जितना तुम्हारा शक्ति हो। गृहस्थी में रहकर मुनि के सुख की कल्पना मत करो। यदि तुम्हारे पास ५० रूपए हैं तो पचास का ही सुख लो, करोडपति के सुख की कल्पना मत करो। लोग कहते हैं कि मुनि कैसे परिषया सहन करते होंगे? अरे, परिषया सहने में क्या धरा है? परिषया तो वृक्ष भी रात दिन शीत घाम मेघ की सहन कर लेते हैं। सब से बड़ी तत्व की बात है। यदि वो हो गया तो परिष्या में कोई बडी बात नहीं। मुनियों को घानी में पेल दिया तो आहि न करी। अतः आत्मज्ञान बडा दुर्लभ है। जिसको प्राप्त होगया वही धन्य है।

यतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित्।
यतो यतो याति ततो न किञ्चित्॥

विचार्य पश्यामि न जगच्च किञ्चित्।
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥

न यहां कुछ है, न वहां कुछ है। जहां जहां जाता हूँ वहां कुछ नहीं है। मैं विचार कर देखता हूं तो जगत में कुछ नहीं है। आत्म-ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों को आत्मा के सिवाय और कुछ ग्रहण न करना चाहिए। आत्मा आत्मा ही के द्वारा ग्रहण करने योग्य है। इन्द्रियां अपने अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। करने दो, पर उन विषयों से राग द्वेष मत करो। कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुनना होता है, रसना से स्वाद लेना होता है, घ्राण से सूंघना होता है, स्पर्शन से ठंडे, गरम का अनुभव होता है और आंखों से देखना होता है। ये इन्द्रियों के विषय हैं। इसके अलावा और कोई विषय होय तो बताओ। इन्द्रियों का काम ही विषयों में प्रवर्तना होता है। चक्षु इन्द्रिय है। इसका काम देखने का है। देखलिया चलो छुट्टी पाई। पर हां, उस देखने में किसी प्रकार का हर्ष विषाद मत करो। सूरदास ने बाह्य में अपनी आंखें फोड़ली तो क्या होता है? अंतरंग से देखने की लालसा नहीं मिटी तो व्यर्थ है। इसी प्रकार मन में भी इष्टानिष्ट कल्पना करी तो आकुलता है।

एक स्थान पर लिखा है—

आतम के अहित विषय कषाय।
इनमें मेरी परिणति न जाय॥

वास्तव में कषाय ही आत्मा का अहित करने वाली है। जैसे बने वैसे कषायों को कृश करने का प्रयत्न करना रहे। रागादिक कषाय ही संसार को जन्म देती है। सनत्कुमार चक्री जब मुनि होगए, उस समय उनको किसी रोग ने घेर लिया। स्वर्गों में इन्द्र ने अपनी सभा में चक्रवर्ती की प्रशंसा की और एक देव उनके परीक्षार्थ वहां आया। उसने वैद्य का रूप धारण कर लिया और मुनि से बोला 'हम आपका रोग दूर कर सकते हैं।' मुनि ने कहा 'इस शरीर के रोग को दूर करने में क्या है? हां, यदि रागादिक रोग दूर कर सकते हो तो उसका इलाज करो।' वह देव तुरन्त चरणों में पड़ गया और क्षमा मांगकर चला गया। निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा के रागादिक विकार दूर करने को कोई समर्थ नहीं। मनुष्य स्वयं यदि चाहे तो वह मेट सकता है।

संसार जाल में फंसाने वाला कौन है? जरा अन्तर्दृष्टि से परामर्श करो। जाल ही चिड़िया को फंसाती है ऐसी भ्रान्ति छोड़ो बहेलिया फँसाता है यह भ्रम भी त्यागो, जिह्वेन्द्रिय फँसाती है यह अज्ञानता भी त्यागो,

रहित शून्य हूं ऐसी अपनी आत्मा की भावना करनी चाहिए।

'जगतत्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्ध निश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवाः इति निरंतरं भावना कर्तव्येति।' अर्थात तीन लोक और तीन काल में शुद्ध निश्चय नय से ऐसा (स्वभाव से पूर्ण और विभाव से रहित) हूं तथा समस्त जीव ऐसे ही है। ऐसी मन, वचन, काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से निरंतर भावना करना योग्य है।

आगे सांख्यमत का निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि उनका कहना कहां तक उचित है? वे कहते हैं कि कर्म ही सब कुछ करता है-कर्म ही ज्ञान को ढकता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञान प्रकट नहीं होता, कर्म ही ज्ञान को बढ़ाता है क्योंकि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान का विकाश होता है। कर्म ही मिथ्यात्वोदय से पदार्थ को विपरीत दिखाता है जैसे कामला रोग वाले को शंख पीला दिखाता है इत्यादि कर्म सब कुछ करता है, आत्मा अकर्ता है। ऐसे सिद्धान्त माननेवाले को कहते हैं कि आत्मा बिलकुल अकर्ता नहीं है। यदि अकर्ता हो जाय तो राग द्वेष मोह ये किसके भाव होय? यदि पुद्गल के

कहो तो वह तो जड़ स्वभाववाला है। जड़ में रागद्वेष क्रिया होती नहीं। अतः इस जीव के अज्ञान से मिथ्यात्वादि भाव परिणाम है वे चेतन ही है जड़ नहीं है। इसलिए कथंचित् आत्मा कर्ता है और कथंचित् अकर्ता है। अज्ञान से जब यह जीव रागद्वेषादिक भाव करता है तब वह कर्ता होता है और जब ज्ञानी होकर भेद ज्ञान को प्राप्त हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। इसलिए चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही होना परमार्थ है वहां अभेददृष्टि में तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है परन्तु कर्म के निमित्त से जब परिणमता है तब उन परिणामों कर युक्त होता है। उस समय परिणाम परिणामी की भेद दृष्टि में अपने अज्ञान भाव परिणामों का कर्ता जीव ही है और अभेददृष्टि में तो कर्ता कर्म भाव ही नहीं है शुद्ध चेतनामात्र जीव वस्तु है। इसलिए चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही है अन्य नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य लिखते हैं:—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रों दयादि सत्॥

पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। यदि पदार्थ को सामान्यापेक्षा देखा जाय तो वह एक रूप ही दिखाई देगा और विशेष की अपेक्षा से उसमें नानापना दिखलाई देगा।

जैसे एक मनुष्य है। वह क्रम से पहिले बालक था, बालक से युवा हुआ और युवा से वृद्ध हुआ। यदि सामान्य से विचारो तो एक चेतनमात्र जीव ही है परन्तु विशेष दृष्टि से देखो तो वह बालक है, फिर युवा है और वही वृद्ध भी है ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा तो आत्मा अकर्ता है परन्तु जब तक भेद-ज्ञान न हो तब तक मिथ्यात्वादि भाव कर्मों का कर्ता ही मानना उचित है। इस तरह एक ही आत्मा में कर्ता अकर्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है कल्पना नहीं है।

द्रव्यदृष्टि से विचारो तो सब आत्माएं शुद्ध मिलेगी पर नय विवक्षा से देखो तो नाना प्रकार के भेद दिखेंगे। ये नय पर्याय दृष्टि कर देखे जावें तो भूतार्थ ही है। अतः उनको उन्हीं रूप से जानना सत्यार्थ भी है। सामान्य रूप से जीव एक है परन्तु पर्याय दृष्टि से उसमें नानापना असत्य नहीं; तात्विक ही है तथा जीव के गुणों में जो विकार होता है उसके जाने से गुण की शुद्ध की अवस्था रह जाती है, अभाव नहीं होता है। जैसे जल में पंक का सम्बन्ध होने से मलिनता आजाती है पंक के अभाव में

जलमें जेसे स्वच्छता आजाती है एवं आत्मा में मोहादि कर्म के विपाक से विकृतावस्था हो जाती है। उस विकृतावस्था में उस में नानापना दीखता है उसका यदि उस अवस्था में विचार किया जावे तब नानापना सत्यार्थ है। किन्तु वह औपाधिक है अतः मिथ्या है न कि स्वरूप उसका मिथ्या है। यदि स्वरूप मिथ्या होता तब संसार नाश की आवश्यकता न थी। अतः नय विवक्षा से पदार्थों को जानना ही संसार से मुक्ति का कारण है।

अब कहते हैं इस मनुष्य को अनादिकाल से जीव और पुद्गल का एकत्व अभ्यास हो रहा है। अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय बुद्धि मान रहा है। कभी इसने खालिस ज्ञान का स्वाद नहीं लिया। ज्ञेय मिश्रित ज्ञान का ही अनुभवन किया। केवल ककडी के खाने में स्वाद नहीं आता पर नमक मिर्च के साथ खाने में आनंद मानता है। क्योंकि इसको वही मिश्रित पदार्थों के खाने की जो आदत पडी हुई है। अब खाने में केवल ज्ञान का ही परिणमन होता है पर उस ज्ञान को छोड़ हम पर पदार्थों में सुख मान लेते हैं। यही अज्ञान की भूल पडी है। आचार्यों ने इसीलिए रस-परित्याग तप बतलाया है कि इस जीव को खालिस एक पदार्थ के स्वाद का अभ्यास पडे। ऐसी

ज्ञानमयी आत्मा को छोड़ यह जीव अनन्त संसार का पात्र बन रहा है। पुद्गल में जीवत्व का आरोप कर रहा है। अन्धकार में रज्जु को सर्प मान रहा है। गिर रहा, पड़ रहा और नाना प्रकार के दुख भी उठा रहा, पर फिर भी अपनी अज्ञानता को नहीं मेटता। शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को नहीं पहिचानता। यदि एक भी बार उस ज्ञानमयी आत्मा का अनुभव हो जाय तो फिर कल्याण होने में कोई विलम्ब न लगे। केवल अपनी भूल को सुधारना है।

एक स्त्री थी। जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसने उसको एक बटिया दी इस विचार से कि कहीं वह खोटे आचरणों में न पड़ जावे और कहा कि इसको पहिले अपने सामने रखकर कोई भी पाप कार्य न करने का वायदा करना तत्पश्चात् इसको पूजकर और फिर खाना खाना। वह आदमी उस बटिया को लेकर चल दिया। मार्ग में एक स्थान पर विश्राम किया और जब खाने का समय हुआ तो उसने उस बटिया को निकाल कर अपने सामने रक्खा और वैसा ही, जैसा कि उसकी स्त्री ने कहा था पाप न करने का वचन दिया। जब वह पूजा पूर्ण कर भोग लगा रहा थी; उसी समय एक चूहा आया और उस

भोग को खाने लगा। उसने सोचा-अरे,इस बटिया से तो चूहा ही बड़ा है, झट उस चूहे को पकड़ लिया और एक पिंजरे में बन्द कर उसकी पूजा करना शुरु कर दिया। एक दिन अकस्मात् बिल्ली आई। चूहा उस बिल्ली को देख कर दबक गया। उसने सोचा अरे, इस चूहे से तो बिल्ली ही बड़ी है; उसको पकड़ कर बांध लिया और उसकी पूजा करने लगा। एक दिन आया कुत्ता-कुत्ते को देख कर वह बिल्ली दबक गई। उसने फिर सोचा अरे, इस बिल्ली से तो कुत्ता बड़ा है। उसने कुत्ते को पकड़ कर बांध लिया और उसकी पूजा शुरु कर दी। अब वह परदेश से कुत्ते को साथ लेकर अपने घर लौट आया। एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी; वह कुत्ता लपक-कर चौके में घुस गया। स्त्री ने उसके मारा एक डंडा और वह भौं भौं करके भाग गया। उसने सोचा--अरे कुत्ते से तो यह स्त्री ही बड़ी है। अब वह उस स्त्री को पूजने लगा—उसकी धोती धोना, उसका साज शृंगारादिक करना। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय साक में नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खाने को बैठा तो उसने कहा 'आज शाक में नमक क्यों नहीं डाला ?' वह बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा—क्यों भूल गई और एक थप्पड़ मारा। वह स्त्री रोने लगी। उसने सोचा

अरे, मैं ही तो बडा हूँ; यह स्त्री तो मुझ से भी दबक गई। आखिर उसे अपनी भूल का ज्ञान होगया। तो वास्तव में जिसने अपने को पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरों को बडा बनाते हैं कि अमुक बडे हैं, तमुक बडे हैं, पर मूर्ख अपनी ओर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, तुझ से तो बडा कोई नहीं है। बडा बनने के लिये बडे कार्य कर। वास्तव में अपने को लघु मानना तो महत अज्ञानता है कि हम क्या हैं? किस खेत की मूली हैं? यह तो महान आत्मा को पतित बनाना है। उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनंत ज्ञान की शक्ति तिरोभूत है। अपने को मान तो सही कि मुझमें परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है। आत्मा निर्मल होने से मोक्षमार्ग की साधक है और आत्मा ही मलिन होने से संसार की साधक है। अतः जहाँ तक बने आत्मा की मलिनता को दूर करने का प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

देखिये, 'पंकापाए जलस्यानिर्मलतावत्।' जल के ऊपर काई आ जाने से जल मलिन दिखता था और जब काई दूर होगई तो जल स्वच्छ का स्वच्छ होगया। उसकी स्वच्छता कहीं और जगह नहीं थी केवल काई लग जाने से उसमें

मलिनता थी सो जब वह दूर हुई तो जल स्वतः स्वच्छ होगया। अब देखो, यह कपड़ा है। इस पर यह चिकनाई लगी हुई है इस चिकनाई की वजह से उसमें धूल के कण लग गए जिससे यह मलिन होगया। पर जब सोडा साबुन लगाकर उसे साफ कर दिया गया तो वह वस्त्र स्वच्छ होगया। तो उस वस्त्र में जब स्वच्छता थी तभी तो वह उजला हुआ; नहीं तो कैसे होता? हां, उस वस्त्र में केवल बाह्य मलिनता अवश्य आगई थी, उसके धुल जाने से वह जैसा था वैसा होगया। इसी तरह आत्मा भी राग-द्वेषादिक के संयोग से विकार को प्राप्त हो रही थी: उस विकारता के मिट जाने से वह जैसी थी वैसी होगई। अब देखो उस वस्त्र में जो चिकनाई लग रही है, यदि वह नहीं मिटे और ऊपर से चाहे जितना जल से धो डालो तो क्या होता है? क्योंकि उस चिकनाई की वजह से वह फिर मलिन का मलिन हो जायगा। इसी तरह आत्मा के जो रागद्वेषादिक हैं यदि वह नहीं मिटे और ऊपरी शरीर को खूब सुखाने लगे; तपश्चरण करने लगे तो क्या होता है? तुषमासभिन्न ज्ञान हुआ नहीं और उस तुष को ही पीटने लग गए तो बताओ क्या होता है? अन्तरंग की रागद्वेष परिणति नहीं मिटी तो पुनः वही देह धारण है। पर्याय

को मिटाने का प्रयत्न नहीं है पर जिन कारणों से पर्याय उत्पन्न हुई उन्हें मिटाने की आवश्यक्ता है। उसका ज्ञान अनिवार्य है। जैसे मिश्री है। यदि उसे नहीं चखो तो कैसे उसका स्वाद आए कि यह मीठी होती है। उसी तरह राग का भी यदि अनुभवन न होय तो क्या उसे मिटाने का प्रयत्न होय? प्रीतिरूप–परिणामो रागः। प्रीतिरूप परिणाम का होना राग है। और अप्रीति रूप परिणाम का होना यह द्वेष है। संसार का मूल कारण यही रागद्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त करली उसके लिए शेष क्या रह गया?

अब कहते हैं कि आत्मा को पहिचानना ही सब से बड़ा पुरूषार्थ है। 'घर छोड़कर तीर्थ स्थान में रहने में पुरूषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावों की तरह ज्ञानार्जन कर जनता को उपदेश कर सुमार्ग में लगाना पुरूषार्थ नहीं, दिगम्बर वेष भी पुरूषार्थ नहीं, सच्चा पुरूषार्थ तो यह है कि उदय के अनुसार जो रागादिक हों, वे हमारे ज्ञान में भी आवें, उनकी प्रवृति भी हममें हो, किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पना से अपनी आत्मा की रक्षा कर सकें।

लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती। अरे, तुम्हें शान्ति मिले तो कैसे मिले? एक क्षण रागादिक से

निवृत होकर शांति मुद्रा से बैठकर तो देखो कैसा शांति का समुद्र उमड़ता है? न कुछ करना ही आत्मा का काम है। मन वचन काय के योग भी आत्मा के नहीं है। वह तो एक निर्विकल्प मात्र है।

लोग कहते हैं कि आत्मा की महिमा अनन्त शक्ति में है। अरे, उसकी महिमा अनन्त शक्ति में नहीं। मैं तो कहता हूं कि पुद्गल में भी अनन्त शक्ति है। देखलो, केवल ज्ञानावरण कर्म ने आत्मा के केवल ज्ञान को रोक लिया है। पर आत्मा की भी वह शक्ति है जो समयग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश कर परमात्मा बन जाय। तो उसकी महिमा अनन्त शक्ति में नहीं। उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है? वह चीज जैसी है वैसी ही है।

लोग अपने को कर्मों पर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं- क्या करें, हमारे कर्म में ही ऐसा लिखा था—कितनी अज्ञानता और कायरता है। जैसा कि अन्यमती कहते हैं, 'क्या करें-भगवान को ऐसा ही मंजूर था' वैसा ही ये लोग भी कर्मों के मत्थे सारा दोष मढते हैं। पुरूषार्थ पर किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगम में पुरूषार्थ का इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं। अरे,कर्मों

को दोष देने से क्या होगा ? जो जन्मार्जित कर्म है उसका तो फल उदय में आएगा ही । भगवान को ही देखो । मोह नष्ट हो चुका । अर्हंत पद में विराजमान है । पर फिर भी दंड कपाट करो । दंडाकार होउ, कपाट रूप होउ, प्रतर करो और लोकपूरण करो । यह सब क्या है ? वही जन्मार्जित कर्म ही तो उदय में आकर खिर रहे हैं । तो कर्मों के सहारे रहना ठीक नहीं । पुरुषार्थ भी कोई चीज है । जिस पुरुषार्थ से केवल ज्ञान की प्राप्ति होय उस पुरुषार्थ की ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है । समयसार में लिखा है:—

शुद्ध द्रव्य निरुपणार्पित मतिस्तत्वं समुत्पश्यतो ।
नैकं द्रव्य गतं च कास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ॥
ज्ञानंज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्ध स्वभावोदयः ।
किं द्रव्यान्तरचुम्बना कुलधियस्तत्वाच्चयवन्तेजनाः ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्ध द्रव्य के निरुपण में बुद्धि लगाई है और जो तत्व को अनुभवता है ऐसे पुरुष के एक द्रव्य में प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासता । तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थों को जानता है सो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है । ये लोक हैं वे अन्य द्रव्य के ग्रहण में आकुल बुद्धिवाले हुए

शुद्ध स्वरुप से क्यों चिपते हैं। तो उस स्वरुप की ओर ध्यान दो। परन्तु मोह! तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसार मात्र को अपना बनाना चाहता है। नारकी की तरह मिलने को तो कण भी नहीं परन्तु इच्छा संसार भर के अनाज खाने की होती है।

अब देखिए, इस शरीर पर तुम यह कपड़ा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश कर जाता है? पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। और चोट्टापन क्या है? दूसरी चीज को अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है। इस दुपट्टे को हमने अपना मान लिया जभी तो चोर ही गए; नहीं तो समझते पराई हैं। पर मोह मदिरा में ऐसा ही होता है। तुमने उसकी सी बात कही और उसने उसकी सी। इस तरह उस शुद्ध स्वरूप की ओर ध्यान ही नहीं देते। देखिए, यह घड़ी हमने लेली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे हैं। पर अन्तरंग से यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकों से यदि जरूरत पड़े तो काम भी निकाल लो पर अन्तरंग से यही जानो कि अरे, यह तो पराई है। और जब तक भइया पर को पर और अपने को अपना नहीं समझा तब तक कल्याण भी कैसे होयगा? यदि रागादिकों को अपनाते रहोगे

तो कैसे बंधन से छूटना होगा ? बतलाइए। अतः रागादिकों को हटाने की आवश्यकता है। कैसी भी आपत्ति आजाय, समझो यह भी कर्मों का कर्जा है। समभाव से उसे सहन करलो। हां, उसमें हर्षविषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। और भइया रागादिक नहीं हटे तो मनुष्य जन्म पाने का फल ही क्या हुआ? संसार और कोई नहीं रागादिक परिणति ही संसार है और उसका अभाव ही समयसार है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य देवागम स्तोत्र के बाद एक स्थान पर लिखते हैं कि 'हे प्रभो! मैं आपकी स्तुति राग से नहीं करता हूँ; क्योंकि गुणी के गुणों में अनुराग का होना सही भक्ति कहलाती है। तो आपका गुण तो वीतराग है। इसलिए मैं उस वीतरागता का उपासक हूँ न कि राग का। और भी आगे उन्होंने लिखा कि मैं अन्य मतों का क्यों खण्डन करता हूँ? इसका यह मतलब नहीं कि मैं उनसे किसी प्रकार का द्वेष करता हूँ; बल्कि इसलिए कि मैं न्याय और अन्याय मार्ग को बतलाना चाहता था कि यह न्याय मार्ग है और यह अन्याय मार्ग है। मेरा केवल इतना ही उद्देश्य था। तुम चाहे तो न्याय मार्ग को अपनालो चाहे अन्याय मार्ग को। यह तुम्हारे हाथ की बात है।

अतः मनुष्य को अभिप्राय निर्मल रखने की चेष्टा करनी चाहिए। उसी की सारी महिमा है। श्रेणिक राजा को ही देखिए। जब वह मुनिराज के गले में सर्प डाल आए तो रानी से जाकर सर्व हाल कह दिया। रानी ने कहा 'अरे, तुमने यह क्या किया ?' राजा बोला 'वह तो गले से उतारकर फेंक देगा।' रानी ने कहा 'नहीं, यदि वह सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते, नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नंगा होते हुए भी हमारा मुनि नहीं।' वहां दोनों जाकर पहुँचे तो देखा कि उनके गले में सर्प के कारण तमाम चीटियां चिपक गई हैं। दूर से देखते ही राजा के हृदय में वह साम्यभाव की मुद्रा अंकित होगई। उसने मन में सोचा कि मुनि हैं तो सचमुच यही है। रानी ने उसी समय मुनि के समीप पहुँचकर खाँड़ द्वारा उन चीटियों को दूर किया। तो मतलब यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जब उसके हृदय में साम्य भाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रों में भी क्या लिखा है ? मनुष्य के अभिप्रायों को निर्मल बनने की चेष्टा ही तो है। प्रथमानुयोग में वही पाप पुण्य को कथनी है और चरणानुयोग में भी वही मनुष्य के चारित्र का वर्णन है। गुणस्थान क्या हैं ? मनुष्य के परिणामों को ही

परिणति तो है । पहिले गुणस्थान मिथ्यात्व से लेकर चौदहवें गुणस्थान अयोगी पर्यंत मनुष्य में ही तो समाते हैं । देवों में ज्यादा चौथा गुणस्थान है । तिर्यचों में पांचवे तक और नारकियों में ज्यादा से ज्यादा चौथा है । तो मनुष्य यदि चाहे तो संसार की संतति को निर्मूल कर सकता है । कोई बड़ी बात नहीं । एक ने कहा रामायण तो सब गपोड़ेबाजी है । उसमें सब कपोल-कल्पित कल्पनाएँ भर रही हैं । दूसरा बोला यदि उसमें कल्पनाएं है तो यह तो मानोगे कि रावण ने खोटा काम किया तो लोक निंदा का पात्र हुआ और राम ने लोक प्रिय कार्य किया तो सुयश को अर्जन किया । वह बोला हां, इसमें कोई आपत्ति नहीं । तो शास्त्र बांचने का फल ही यह हुआ कि अपने को सुधारने की चेष्टा करे । भगवान की मूर्ति से भी यही शिक्षा मिलती है कि अपने को उसी अनुसार बनाए । उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे, तुम भी वैसा ही करो । मध्यस्थ बनने का यत्न करो । गुरु और क्यों पुज जाते हैं ? उन्होंने वही समता धारण किया । लिखा भी है—

अरिमित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुतिकरण ।
अर्घावतारण असि प्रहारण में सदा समता धरण ॥

तो मनुष्य को परिणामों में समता धारण करना चाहिए। तुम्हारे दिल में यदि प्रशन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान आज तो प्रशन्न मुद्रा में है। वैसे देखा जाय तो भगवान न तो प्रशन्न है और न रूष्ट। अपने हृदय की प्रशन्नता को तुमने भगवान पर आरोप कर दिया कि आज तो मूर्ति प्रशन्नमना दिखाई देती है पर देखो तो वह जैसे की तैसी ही है। अतः मनुष्य यदि अपने परिणामों पर दृष्टिपात करे तो संसार बंधन से छूटना कोई बड़ी बात नहीं है।

हम ही लोग अपनी शान्ति के बाधक है। जितने भी पदार्थ संसार में है उनमें से एक भी पदार्थ शान्त स्वभाव का बाधक नहीं। बर्तन में रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बे में रक्खा हुआ पान पुरूष में विकृति का कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात्कार से विकारी नहीं करता, हम स्वयं विकल्पों से उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुखी है। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुख देता है, इसलिए जहां तक बने आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धता पर सदैव ध्यान रहना चाहिए।

आगे कहते हैं कि ब्रह्मचर्य व्रत ही सर्व व्रतों में उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रत को पाल लिया उसको अन्य व्रत अनायास ही सध जाते

है। यह इस व्रत का पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयक राग का जीतना बड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थिएटर चलते थे। एक थिएटर में पार्सी था; उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों स्टेज पर अपना खेल जनता को बतलाते थे। एक दिन वह स्त्री स्टेज पर अपना पार्ट कर रही थी। एक मनुष्य ने एक कागज पर कुछ लिखकर स्टेज पर फेंक दिया। उस स्त्री ने उस कागज को उठाकर बाँचा। बाँचकर उसने कागज को दियासलाई से जलाकर अपने पैरों से उसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागज को कुचल दिया और उधर उस मनुष्य ने कटार से अपना गला काट लिया। तो स्त्री संबंधी राग बड़ा दुखदाई होता है। एक पुस्तक में लिखा 'संसार में शूरवीर कौन है?' उत्तर में बतलाया—जो तरूण स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से बीधा जाने पर भी विकार भाव को प्राप्त नहीं हुआ। वास्तव में शूरवीर तो वही हैं।

और स्त्री सम्बंधी भोग भी क्या है? उनमें कितनी देर का सुख है। अन्त में तो इससे वैराग्य होता ही है। आपके सुदर्शन सेठ की कथा तो आगम में ही लिखी है। भर्तृहरि को ही देखिए। उनकी स्त्री का नाम पिंगला था। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्री का दुश्चरित्र देखकर वे

संसार से विरक्त होकर योगी हो गए थे। स्त्री के विषय में उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था :—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता ।
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनो ऽन्यसक्तः ॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या ।
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तवन किया करता हूँ, वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं, किन्तु दूसरे पुरूष पर आसक्त है और वह पुरूष किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्री को, उस पुरूष को, उस कामदेव को, इस (मेरी स्त्री को) को, और मुझको भी धिक्कार है। कार्तिकेय मुनि ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अन्त में पांच बाल ब्रह्मचारियों को ही नमस्कार किया।

तो इस राग से विरक्त होना अत्यन्त कष्टसाध्य है। और जिसको विरक्तता हो जाती है उसके लिए भोगों का छोडना कोई बड़ी बात भी नहीं होती। पंडित ठाकुर-प्रसादजी थे। वे दो विषयों के आचार्य थे। उनकी दूसरी स्त्री बडी खूबसूरत थी पंडितजी उस पर पूर्ण आसक्त थे। उस समय उनकी आय ५०रू० माहवार थी तो उस ५०रू०

में से वे १० रू० मासिक अपनी स्त्री को देते। जब उनकी तरक्की १०० रू० मासिक हुई तो वे २० रू० उसको देने लगे। और वह (स्त्री) सब रूपया गरीबों को बांट दिया करती। जब उनके ५०० रू० माहवार हुए तो १०० रू० उसे देने लग गए। उन रुपयों को भी वह दान में दे दिया करती। एक दिन पंडितजी ने कहा—'देखो, पैसा बहुत कठिन से कमाया जाता है। तुम दान में व्यर्थ ही इतना रुपया दे दिया करती हो।' वह बोली—'पंडितजी कौन हम आपसे रुपया मांगने जाते हैं। तुम्हारी खुशी होती है तो तुम स्वयं ही देते हो।' एक दिन की बात है। स्त्री ने पंडितजी को बुलाकर कहा—'देखो आज तक हमने आपके साथ इतने दिनों तक भोग भोगे पर हमें विषयों में कुछ भी मजा नहीं आया। ये आपके दो बाल बच्चे हैं। सँभालिए। आज से तुम हमारे भाई हुए और हम तुम्हारी बहिन हुई।' पंडितजी ऐसे वचनों को सुनकर अवाक् रह गए। अन्त में वे उससे बोले 'बहिन, तुमने मुझे आज चेतावनी देकर सँभाल लिया नहीं तो मैं भोगों में आसक्त होकर न जाने कौनसी दुर्गति का पात्र होता।' तो भोगों से विरक्त रहने ही में मनुष्य की शोभा है। स्त्री संबन्धी राग घटाना ही सर्वस्व है। जब इस संबन्धी राग घट गया तब

अन्य परिग्रह से तो सुतरां अनुराग घट जाता है।

संसार वृद्धि का मूल कारण स्त्री का समागम ही है। स्त्री समागम होते ही पाँचों इन्द्रियों के विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूप को देखकर निरंतर देखने की अभिलाषा रहती है, वह सुन्दर रूपशाली निरंतर बनी रहे, इसके लिए अनेक प्रकार के उपटन तेल आदि पदार्थों के संग्रह में व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदि से दुर्गन्धित न हो जाय अतः निरंतर चंदन, तेल, इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह कर उस पुतली की सम्हाल में संलग्न रहता है। उसके केश निरन्तर लंबायमान रहें अतः उनके अर्थ नाना प्रकार के गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलों का उपयोग करता है। तथा उसके सरस कोमल मधुर शब्दों का श्रवण कर अपने को धन्य मानता है और उसके द्वारा संपन्न नाना प्रकार के रसास्वाद को लेता हुआ फूला नहीं समाता। कोमलांग को स्पर्श करके तो आत्मीय ब्रह्मचर्य का और बाह्य में शरीर-सौन्दर्य का कारण वीर्य का पात होते हुए भी अपने को धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्री के समागम से ये मोही पंचेन्द्रियों के विषय में मकड़ी की तरह जाल में फँस जाते हैं। भर्तृहरि महाराज ने जो कहा है वह तथ्य ही है—

मत्तेभ-कुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य ।
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः ॥

अब कहते हैं कि संसार में परिग्रह ही दुख की जड़ है। इस दुष्ट ने जहां पदार्पण किया वहीं कलह विसंवाद मचवा दिया। देखलो, इसकी बदौलत कोई भी प्राणी संसार में सुखी नहीं। एक गुरू और चेला थे। वे दोनों सिंहलद्वीप पहुँचे। वहाँ गुरू ने दो सोने की ईंटें लीं और चेला को सुपुर्द कर कहा कि इन्हें सिर पर धर कर ले चल। वह ईंटें कुछ भारी थीं। अतः चेला ने मन में सोचा 'देखो, गुरुजी बडे चालाक है। आप तो स्वयं खाली चल रहे हैं और मुझे यह भार लाद दिया है।' दोनों चले जाते हैं। गुरु कहता है 'चेला चले आओ। बड़ा भय है।' चेला बोलाता है—'हां, महाराज चला आता हूं।' आगे मार्ग में एक कुआ मिला। चेला नें उन ईंटों को उठाकर कुए में पटक दिया। गुरु ने कहा—'चेला चले आओ आगे बडा भय है।' चेला बोला-'हां, महाराज! परवाह मत करो। अब आगे कुछ भय नहीं है।' तो परिग्रह ही बोझा

है। इससे जितना २ ममत्व हटाओगे उतना २ सुख प्रकट होगा। जितना अपनाओगे उतना ही दुख मिलेगा।

एक चार लुटेरे थे। वे कहीं से १००० रू० लूटकर लाए। चोरों ने ढाई सौ रुपये आपस में बाँट लिए। एक ने कहा-अरे, जरा बाजार से मिठाई तो लाओ, सब मिलकर परस्पर बैठकर खावेंगे। उनमें से दो लुटेरे मिठाई लेने चल दिए। इन्होंने आपस में सोचा यदि जहर के लड्डू बनवाकर ले चले तो बड़ा अच्छा हो। वे दोनों खाते ही प्राणान्त होंगे और इस तरह वे ५०० रुपये भी अपने हाथ लग जाऐंगे। उधर उन्होंने भी यही विचार किया यदि वे ५०० रुपये अपने पास आजाए तो बड़ा अच्छा हो और उन दोनों को मारने के लिए उन्होंने भी तीर बाण रख लिए। जब वे दोनों लड्डू लेकर आए तो इन्होने तीर बाण से उनका काम तमाम किया और जब उन्होंने लड्डू खाए तो वे भी दुनियां से चल बसे।

अतः संसार में परिग्रह ही पंच पापों के उत्पन्न होने में निमित्त होता है। जहां परिग्रह है, वहाँ राग है, और जहाँ राग है वहीं आत्मा के आकुलता है तथा जहां आकुलता है, वही दुख है एवं जहां दुख है वहाँ ही सुख गुण का घात है, और सुखगुण का घात ही का नाम हिंसा है। संसार में

जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। परिग्रह के त्यागे बिना अहिंसा तत्व को पालन करना असम्भव है। भारत-वर्ष में जो यज्ञादिक से हिंसा का प्रचार होगया था, उसका कारण यही तो है, कि हमको इस यज्ञ से स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे यह सर्व क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिगृह की चाह न होती तो निरपराध जन्तुओं को कौन मारता? आज यह परिग्रह पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, आप नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहाँ तक अपना प्रभाव प्राणियों पर ग़ालिब किए है जो सम्प्रदायवादों ने धर्म तक को निजी मान लिया है। और उस धर्म की सीमा बांध दी है। तत्व दृष्टि से धर्म तो आत्मा की परिणति विशेष का नाम है, उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है? जो धर्म चतुर्गति के प्राणियों में विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्यों में मानना क्या न्याय है? परिग्रह पिशाच की ही यह महिमा है जो इस कूप का जल तीन वर्णों के लिए है, इसमें यदि शूद्रों के घड़े पड़ गये तब अपेय होगया! टट्टी में होकर नल आजाने से पेय बना रहता है! अस्तु, इस परिग्रह पाप से ही संसार के सर्व पाप होते हैं।

एक थका हुआ मनुष्य कुए पर जाकर सोगया। वह स्वप्न में देखता है कि उसने किसी दुकान पर नौकरी की, वहाँ से कुछ धन मिला तो एक जायदाद मोल ली। फिर वह देखता है कि उसकी शादी होगई और एक बच्चा भी उत्पन्न होगया। फिर वह देखता है कि बगल में बच्चा सोया हुआ है और उसके बगल में स्त्री पड़ी हुई है। अब उसकी स्त्री उससे कहती है कि जरा तनिक सरक जाओ, बच्चे को तकलीफ होती है। वह थोड़ा सरक जाता है। उसकी स्त्री फिर कहती है कि तनिक और सरक जाओ, तनिक और सरक जाओ। अन्ततोगत्वा वह थोड़ा सरकते सरकते धड़ाम से कुए में गिर पड़ा। जब उसकी नींद खुली तो अपने को कुऐ में पड़ा हुआ पाया। बड़ा पछताने लगा। उधर से एक मनुष्य उसी कुऐ पर पानी भरने आया। इसने नीचे से आवाज दी-भाई कुऐ में से मुझे निकाल लो। उसने रस्सी डालकर उसको येन केन प्रकारेण कुए में से बाहर निकाला। जब वह निकल आया तो दूसरा मनुष्य पूछता है 'भाई-तुम कौन हो?' उसने कहा-पहिले तुम बतलाओ, तुम कौन हो? वह बोला 'मैं एक गृहस्थी हूँ।' उसने जबाब दिया 'जब एक मुझ गृहस्थी की यह दशा हुई तो तू दूसरा कैसे जिन्दा चला आया।'

अब यहाँ पर वन्ध का स्वरूप बतलाते हैं। निश्चय से इस आत्मा के केवल एक राग ही बंध का कारण हैं। जैसे तैलयुक्त मर्दन पुरूष अखाडे की भूमि में रजकर बँधता है, लिप्त होता है। वैसे ही रागादिक की चिकनाहट जीव को वंध की कराने वाली हैं। अब देखो लोक व्यवहार में भी हिंसा उसे कहते हैं जिसने पर जीव का घात किया हो। लेकिन पर जीव का घातना यह वंध का कारण नहीं है। वंध का कारण केवल अन्तरंग में उसके मारने के भाव हैं। आचार्यों ने 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा' इस सूत्र को रच दिया। इसका मतलब यही कि प्रमाद के निमित्त से प्राणों का वियोग करना हिंसा है। अतः प्रमाद से किसी भी कार्य को करना हिंसा है। तुमने प्रमाद के वश से कोई भी कार्य किया, चाहे उसमें हिंसा हुई हो अथवा नहीं लेकिन उसमें हिंसा का दूषण लग गया। अप्रमाद में यदि जीव हिंसा भी होगई तो उसमें हिंसा सम्बन्धी वंध नहीं क्योंकि तुम्हारा काम केवल देखना और प्रमाद को विडारना था सो कर लिया। अतः सब अन्तरंग से वन्ध की क्रिया होती हैं। वाह्य वस्तुओं से कोई वन्ध नहीं होता यदि वाह्य वस्तुओं से ही वन्ध होता तो समवसरण में लक्ष्मी सहित जिनदेव विराजमान हैं पर फिर भी उनके

बन्ध नहीं क्योंकि वही अन्तरंग में रागादि की कलुषता नहीं है। और क्या है?

अब जो यह कहना कि मैं पर जीव को जिलाता तथा मारता हूँ यह अध्यवसान करना भी मिथ्या है। प्रत्येक जीव अपनी आयु से जीवित रहता है और आयु के निषेक पूरे होने से मरण प्राप्त करता है। कोई किसी की आयु को न देता है तथा हरता है। छत्रसाल का नाम प्रशिद्ध है। जब भइया उसके पिता के नगर पर मुगलों ने आक्रमण किया तो उसकी सारी सेन्या हार गई। कोई चारा न देखकर आप अपनी स्त्री समेत भागने को एक घोडे पर असवार हुए। स्त्री के उदर में था गर्भ। ज्योंहीं वे भागने को तैयार हुए उसी समय वह बच्चा पैदा होगया। अब वे दोनों बहुत असमजस में पड गए कि अब क्या करना चाहिये? इधर तो बच्चे का जन्म है और उधर से सेन्या का आक्रमण। तो उन्होंने अपने प्राण बचाने के लिए बच्चे को एक तरफ फेंका और आप भाग निकले। अब वह बच्चा एक मकोडों के झाड में जा पड़ा। उसके ठीक ऊपर था एक मधुमक्खी का छत्ता। उसमें से एक २ शहद की बूँदे निकले और उस बच्चे मुख में जा पडे। इस तरह सात दिवस व्यतीत हो गए। जब वे दोनों

वापिस लौटे और बच्चे को वहाँ देखा तो हँसता खेलता हुआ पाया। उन्होंने उसे उठा लिया और नगर में आकर फिर बडी खुशियाँ मनाई। वही पुत्र वीर छत्रसाल नाम से प्रशिद्ध हुआ जिसने आगे चलकर मुगलों के दांत खट्टे किए। तो कहने का तात्पर्य यही कि जब मनुष्य की आयु होती है तो उसको प्रायः ऐसे निमित्त मिल जाया करते हैं। और देखो नारद का भी जन्म इसी प्रकार होता है। उसके माता पिता प्रथम तो संसार से उदासीन हो वैराग्य वृति धारण कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लेते है पर फिर उन दोनों के काम वासना जाग्रत होती है तो वही उपद्रव वहाँ करते हैं। दोनों के संयोगावस्था में स्त्री के गर्भ रह जाता है। उसी समय मुनिराज उन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं 'अरे, तुमने यहाँ आकर भी ऐसा उपद्रव मचाया। यह तुम लोगों ने क्या किया ? जिस दीक्षा को धारण कर आत्म-कल्याण करना चाहिये था वहाँ तुमने आत्मा को पतित बनाया। यदि ऐसा ही उपद्रव करना था तो घर बार काहे को छोड़ा था ?' ऐसी वाणी को सुन कर उन्हें तीव्र वैराग्य हो आता है। पुरुष तो पुनः दीक्षा लेकर विहार कर जाता है पर स्त्री बेचारी क्या करे ? उसके उदर में तो गर्भ है। अतः जब बालक का जन्म होता है

तो वह स्त्री बच्चे को लेकर कहती है 'बेटा, यदि तेरी आयु है तो तू यहाँ वन में भी अनायास पाला जा सकता है और आयु शेष नहीं है तो मेरा आँचल का दूध पीते हुए भी नहीं जी सकता। इतना कहकर बालक को वहीं पड़ा छोड़ आप भी पुनः दीक्षा लेकर अर्यिका हो जाती है। तब वहीं बालक आगे चलकर नारद होता है जो देवों द्वारा लाया जाकर ऋषियों द्वारा पाला जाता है। तो मनुष्य आयु से ही जीवित रहता है और आयु न होने से मरण प्राप्त करता है।

निश्चय से केवल अन्तरंग का अध्यवसान ही बंध का कारण होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। बाह्य वस्तुओं से बन्ध नहीं होता वह तो अध्यवसान का कारण है। इसीलिए चरणानुयोग की पद्धति से बाह्य वस्तुओं का निषेध किया जाता है क्योंकि जहाँ कारण होता है वहीं कार्य की सिद्धि है। अतः आचार्यों ने पराश्रित व्यवहार सभी छुड़ाया है केवल शुद्ध ज्ञानघन स्वरूप अपनी आत्मा का ही अवलम्ब ग्रहण कराया है। अब देखिए, सम्यक्‌दृष्टि के चारित्र को कुचारित्र नहीं कहा और द्रव्यलिंगी मुनि जो एकादश अंग के पाठी हैं फिर भी उनके चारित्र को कुचारित्र बतला दिया। तो केवल पढ़ने से कुछ नहीं होता

जिस पठन पाठन के फल स्वरूप जहाँ आत्मबोध का लाभ होना चाहिए था वह नही हुआ तो कुछ भी नही किया। हम नित्य पुस्तकों को खोलते हैं, उस पर सुन्दर सुन्दर पट्टे भी चढाते हैं पर अन्तरंग का कुछ भी ख्याल नहीं करते तो क्या होता है ?

अतःसब अन्तरंग से ही बंध की क्रिया होती है। यदि स्त्री भी त्यागी घर भी त्यागा और दिगम्बर भी होगए पर अन्तरंग की राग द्वेषमयी परिणति का त्याग नहीं हुआ तो कुछ भी त्याग नहीं किया। साँप ने केचुली का तो त्याग कर दिया पर अन्तरंग का जो विष है उसका त्याग नहीं किया तो क्या फायदा ? जब तक आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग नहीं होता तब तक किञ्चित् भी त्याग नहीं कहलाता। अब देखिए, कुत्ते को लाठी मारी जाती है तो वह तो लाठी पकड़ता है परन्तु सिंह का यह कायदा है कि वह लाठी को न पकड़ मनुष्य को ही पकड़ता है। उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक है उन्हें हटाने का यत्न करता है पर मिथ्याती ऊपरी टीपटाप में ही धर्म मान बैठता है। एक प्रातःकाल की लालामी है तो एक सायंकाल की लालामी। प्रातःकाल की लालामी तो उत्तरकाल में प्रकाश का कारण है और सायंकाल की लालामी उत्तरकाल

में अन्धकार का कारण है। दोनों हैं लालामी ही। अतः यह सब अन्तरंग के परिणामों की जाति है। सुदर्शन सेठ को रानी ने कितना फुसलाया पर वह अपने सम्यक् परिणामों पर दृढ बने रहे। तो बाह्य से कुछ भी क्रिया करो, क्या होता है ? हम लोग निमित्तों को हटाने का प्रयत्न करते है। अरे, निमित्तों को हटाने से होगा क्या ? हम आप से पूछते हैं। किस किस को निमित्त बनाकर हटाओगे ? तीनों लोको से निमित्त भरा पड़ा है। तो वह अन्तरंग का निमित्त हटाओ जिसकी वजह से अन्य निमित्तों को हटाने का प्रयत्न किया जाता हैं। तो अन्तरंग में वह कलुषता हटाने की आवश्यकता हैं। उस कलुषता से ही बंध होता है। तुम चाहे कुछ भी कार्य करो पर अन्तरंग में जैसा तुम्हारे अध्यवसान है उसी के अनुसार बन्ध होगा। एक मनुष्य नें दूसरे को तलवार से मारा तो तलवार को कोई फाँसी नहीं देता। मनुष्य ही फाँसी पर लटकता है। तो बाह्य वस्तुओं को त्यागनें की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तरंग के रागादिक त्याग की। सम्यक्त्वी क्रोध भी करता है पर अन्तरंग से जानता है कि ये मेरे निज-स्वभाव की चीज नहीं है। औदयिक परिणाम है, मिटनेवाली चीज है। अतः त्यागने का प्रयत्न करता है। वह त्याग को ही सर्वस्व

मानता है। पंचम गुणस्थान देशव्रत में अव्रत का त्याग किया, अप्रमत्त में प्रमाद का त्याग किया और आगे चढ़ा तो सूक्ष्म सांपराय में लोभ का त्याग किया और क्षीण मोह में मोह का त्याग कर एक निज शुद्ध स्वरूप में ही रह गया। इससे जैन धर्म का उपदेश त्याग प्रधान है। हम लोग बाह्य वस्तुओं का त्याग कर अशान्ति को बढ़ा लेते है। अरे, त्याग का यह मतलब थोड़े ही था। त्याग से तो सुख और शान्ति का उद्भव होना चाहिए था सो नहीं हुआ तो त्याग से क्या लाभ उठाया? त्याग का अर्थ ही आकुलता का अभाव है। बाह्य त्याग की वहीं तक मर्यादा है जहां तक वह आत्म परिणामों में निर्मलता का साधक हो। तो आभ्यन्तर परिगृह का त्याग परमावश्यक है। पर सहसा परिग्रह त्याग बहुत मुश्किल है, कोई सामान्य बात नहीं है। और परिग्रह से ही देखो सारे झगड़े हैं। अब तुम्हारे पॉकेट में दाम धरे हुए हैं तो उसके कट जाने का भय है। मुनि हैं, नंगे हैं तो उन्हें काहे का भय? बताओ। तो परिग्रह त्याग में ही सुख है। तुम परिग्रह को मत त्यागो पर दोष तो उसे जानो। मानो यह तो संसार बेल को बढ़ाने वाली है। भोजन खाने का निषेध नहीं है परन्तु दोष तो उसे मानोः

समझो, इसमें मजा नहीं है । भगवान का पूजन भी करो परन्तु यह तो मानो कि साक्षात् मोक्ष मार्ग नहीं है । अतः अन्तरंग में एक केवल शुद्धात्मा का ही अनुभवन करो ।

अब देखो कहते हैं कि हम तुम एक हैं । मोह की महिमा तो देखो । हम और तुम अलग अलग कहता ही जा रहा है और एक बतला ही रहा है कि हम तुम एक है । अब तुम देखो मुनि के पास जाओ तो क्या कहेंगे ? यही कि हम सरीखे होजाओ । और क्या ? घर छोड़ो, बाल बच्चे छोडो और नंगधड़ंग हो जाओ तो भइया क्या करे उनके उसी चाल का मोह है । जैनी कहते हैं कि सब संसार जैनी होजाए । मुसलमान सब को मुसलमान हो जाने की कहते हैं और ईसाई सब को ईसाई बनाना चाहते हैं । तो सब अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग अलापते है क्योंकि उनके पास उसी चाल का मोह है । अतः मोह की विलक्षण महिमा है । मुनि तो चाहते है कि सब संसार मुनि होजाए पर होय कैसे ? सँसार का चक्र ही ऐसा चला आया है ।

कोई कहे कि हमारी आत्मा तो भोजन करती ही नहीं इसलिए हम भोजन क्यों करें ? मत करो। कौन कहता है कि तुम भोजन करो। पर दो ही दिन बाद क्षुधा की वेदना सताने लगेगी। क्यों ? मोह की सत्ता जो विद्यमान है। उसके होते हुए भोजन कैसे नहीं करोगे ? हाँ, मोह जिनके नष्ट हो गया है उनको कोई क्षुधा की वेदना नहीं है। औदारिक शरीर होते हुए भी उसकी वेदना उनको नहीं सताती। अतः मोह में ही क्षुधा लगती है। तो कार्य धीरे धीरे ही होता है। वृक्ष भी देखो समय पर ही फूलता फलता है। एक मनुष्य था। वह मार्ग में चला जा रहा था। उसने एक बुढिया को जाड़े में ठिठुरते हुए देखा। उस पर उसे दया आगई और अपना कम्बल उसे दे दिया। पर जाड़ा बहुत पड रहा था। उसे ठंड सहन नहीं हुई तो आप किसी मकान में घुस गया और वहाँ छप्पड खींचने लग गया। 'कौन है' मकान वाले ने पूछा। वह बोला 'मैं हूँ धर्मात्मा का दादा।' वह तुरन्त आया और उसस छप्पड खींचने का कारण पूछा। उसने कहा-मेरे पास एक कम्बल था सो मार्ग में मैंने एक बुढिया को दे दिया। पर मुझे ठंड बहुत लग रही थी तो मैं यहाँ चला आया। मकान वाले ने कहा-अरे, जब तुझ

पर ठंड सहन नहीं हुई तो अपना कम्बल उस बुढिया को ही क्यों दिया ? वह चुप रहा और धीरे से निकलकर अपना मार्ग जा नापा। तो तात्पर्य्य यही कि अपनी जितनी शक्ति हो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। मान बड़ाई में आकर शक्ति से परे आचरण करना तो उलटी अपनी पूँजी खोना है।

वास्तव में यदि विचार किया जाय तो कल्याण करने में कुछ नहीं है। केवल उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। जब नकुल शूकर और वानर आदि तिर्यंचों ने अपना कल्याण कर लिया तो हम तो मनुष्य हैं, संज्ञी पँचेन्द्रिय है। क्या हम अपना कल्याण नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं।

मनुष्य यदि चाहे तो देवों से भी बड़ा बन सकता है। अभी त्याग-मार्ग को अपनाले तो आज ही वह देवों से बड़ा बन जाय। तो मनुष्य वास्तव में क्या नहीं कर सकता ? वह तप, यम, संयम सब कुछ पाल सकता है जो देवों को परम दुर्लभ है। वे देव यदि तप करना चाहे अथवा संयम पालना चाहे तो नहीं पाल सकते। ऊपर से हजारों वर्ष तक नहीं खावें पर अन्तरंग में तो उनकी चाह खाने की नही मिटती। तो मनुष्य पर्याय क्यों उत्तम

बतलाई कि उसमें बाह्याभ्यंतर त्याग करने की शक्ति है। अरे, देव ज्यादा से ज्यादा नंदीश्वर द्वीप चले गए, पंच कल्याणक के उत्सव देख लिए और क्या है। चौथे गुणस्थान से तो आगे नहीं बढ सकते। पर मनुष्य यदि चाहे तो चौदह गुणस्थान पार कर सकता है— यहाँ तक कि वह सवार्थ-सिद्धि के देवों द्वारा पूजनीक हो सकता है। और तुम चाहे जो कुछ बन जाओ। चाहे पाप करके नरक चले जाओ चाहे पुण्योपार्जन करके स्वर्ग में और पाप पुण्य को नाश कर चाहे मोक्ष चले जाओ। २५ गत्यागति हैं, चाहे किसी में भी चले जाओ। यह तुम्हारे हाथ की बात है।

अब माघनंद आचार्य को ही देखो। दूसरे आचार्य ने शिष्य से कहा जाओ, उस माघनंद आचार्य के पास वही प्रश्न का उत्तर देंगे। तो क्या उनको उस प्रश्न का उत्तर नहीं आता था? पर क्या करे? उनको किसी तरह जो अपना पद बतलाना था। अतः अपने पद को पहिचानो। यही एक अद्वैत है। उसी का केवल अनुभव करो। और देखो यदि अनुभव में आवे तो उसे मानो नातर जबर्दस्ती नहीं है। कुंदकुंदाचार्य ने यही कहा कि अनुभव में आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। जबर्दस्ती का मानना मानने में मानना नहीं हुआ करता। कोई कहे आत्मा तो अमूर्तिक है, वह दिखती ही नहीं तो उसे देखने की क्या

चेष्टा करें ? तो कहते हैं कि वह दिखने की चीज ही नहीं है, अनुभवगोचर है। अब लोक में भी देखो जिसको वातरोग हो जाता है उसका दुख वही जानता है। बाह्य में वह रोग प्रकट नहीं दिखता पर जिसके दर्द है उसे ही अनुभव होता है। तो ऐसी बात नहीं। वह तो एक अनुभव की चीज है। आचार्यों ने स्पष्ट लिख दिया—

मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्म भूभ्रताम् ।
ज्ञातारं विश्व तत्वानां वदे तद्गुण लब्धए ॥

यह देव का स्वरूप है। निरारंभी गुरू है। दयामयी धर्म है। अथवा वस्तु स्वभावो धम्मो—जो वस्तु का स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभव में आवे तो मानो नातर मत मानो। अतः जैसे आत्मा अनुभव में आवे वही उपाय श्रेयस्कर है।

अब कहते हैं कि सब द्रव्यों के परिणाम जुदे जुदे हैं। अपने अपने परिणामों के सब कर्ता हैं। जीव अपने परिणामों का कर्ता है और अजीव अपने परिणामों का-यह निश्चय नय का सिद्धान्त है। पर मनुष्य को जब तक भेद-ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक वह अपने को पर द्रव्यों का कर्ता अनुभव करता है। लेकिन पर द्रव्यों का कर्ता त्रिकाल नहीं होता। जैसे तन्तुवाय ने यों ताना

बाना करके वस्त्र तैयार किया पर तन्तुवाय का क्या एक अंश भी वस्त्र में गया ? वस्त्र का परिणमन वस्त्र में हुआ और तन्तुवाय का परिणमन तन्तुवाय में। पर तन्तुवाय ने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहार से कहता है पर निश्चय से ऐसा नहीं है। वस्त्र की क्रिया वस्त्र में ही हुई है। अतः वह वस्त्र का कर्ता नहीं है। ज्ञानी केवल अपने ज्ञान का कर्ता है। वह दूसरे ज्ञेयों को जानता है। यदि पूर्वोपार्जित कर्म का उदय भी आता है तो उस कर्मफल को वह जानता ही है अतः समता से भोग लेता है।

हम पर द्रव्यों को अपनी मान लेते हैं तभी तो दुखी होते हैं। कोई इष्ट वस्तु का वियोग हुआ तो दुखी होकर चिल्लाने लगे। क्यों ? उसे अपनी मान लिया। कोई अनिष्ट वस्तु का संयोग होगया तो आर्तध्यान करने लगे। यह सब पराई वस्तु को अपना मानने का कारण है। तो अपना मानना मिथ्या है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ समझो हमारा नहीं है। स्त्री भी घर में आई तो समझो पराई है। ऐसा समझने पर उनका वियोग भी हो जायगा तो तुम्हें दुख नहीं होगा। अब देखो, मुनि जब विरक्त हो जाते हैं तो स्त्री से ममत्व बुद्धि ही तो हटा लेते हैं। और जब वह (स्त्री) मुनि को पड़गाह लेती है तो क्या आहार नहीं

लेते ? और उनके हाथ में भोजन भी रखती है तो क्या आँख मूँच लेते हैं ? नहीं । उसे देखते हैं, आहार को भी शोधकर खाते हैं पर उससे मूर्छा हटा लेते हैं दुनियाँ भर के कार्य करो कौन निषेध करता है ? पुत्र को पालो, कुटुम्ब को खिलाओ पर अपने से जुदा समझो । इसी तरह पुद्गल को खिलाओ पिलाओ पर समझो हमारा नहीं है । यदि इसे खिलाओगे नहीं तो बनाओ काम कैसे देगा ? अरे, हाड मांस चाम बने रहो इसमें हमारा क्या बिगड़ता है ? बने रहो, पर इसे खिलाओ नहीं यह कहाँ का न्याय है ? इसे खिलाओ पिलाओ पर इससे काम भी पूरा लो । नौकर को मत खिलाओ तो देखें कैसे काम करेगा ? मुनि क्या शरीर को खिलाते नहीं है ? इसे खिलाते है तो उससे पूरा २ काम भी लेतें है । पुद्गल को खिलाओ पिलाओ पर इसे अपना मन मानो । मानने में ही केवल दोष है । रस्सी को सर्प मान लिया तो गिर रहे हैं, पड़ रहे हैं, चोट भी खा रहे हैं । तो यह क्यों ? केवल ज्ञान में ही तो रस्सी की कल्पना करली । और रस्सी कभी सर्प होती नहीं । इसी तरह पुद्गल कभी आत्मा होता नहीं । पर अज्ञान से मान लेतें है । बस यही केवल भूल है । उस भूल को मिटाकर भेद-ज्ञान करो । समझो आत्मा और

पुद्गल जुदी द्रव्य है। तो भइया उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य करें तो संसार क्या है?

एक लकड़हारा था। वह रोज एक मन लकड़ी का गट्ठा लाता और बाजार में बेच देता। एक दिन उसने पण्डितजी से व्याख्यान सुना। उसमें उन्होंने कहा कि यह पुद्गल जुदा और आत्मा जुदी है-यह सम्यक्‌दर्शन है। और फिर पंच पापों का स्वरूप बतलाया। उसने सोचा मैं हिंसा तो करता ही नहीं हूँ। और यह एक मन लकड़ी का गट्ठा लाता हूँ तो इसे आठ आने में बेच लिया करूँगा। मेरे यही एक भाव होगा। इस तरह झूँठ भी नहीं बोलूँगा। मैं किसी की चोरी तो करता ही नहीं हूँ अतः चोरी का भी सहज में त्याग हो जायगा। मेरे एक अकेली स्त्री है, इसलिए पर स्त्री का भी त्याग कर दूँगा। और पंचम परिग्रह प्रमाण है। तो मुझे लकड़ी बेचने में आठ आने मिलेंगे ही। उसमें तीन आने तो खाने में खर्च लूँगा, दो आने बचाऊँगा, एक आना दान करूँगा और दो आने कपड़े आदि में खर्च करूँगा। इस तरह परिग्रह प्रमाण भी कर लूँगा। ऐसा सोचकर उसने उसी समय पंच पापों का त्याग कर दिया। अब रोज मर्रा वह लकड़ी लाता और बाजार में बेचने को रख देता।

उसके पास ग्राहक आते और पूछते 'क्या लकड़ी बेचेगा ?' वह बोलता 'बेचने के लिए ही तो लाया हूँ।' ग्राहक कहते 'क्या दाम लेगा' ? वह बोलता 'आठ आने'। वे कहते 'कुछ कम करेगा'। वह कहता 'नहीं, महाराज ! मेरी एक मन लकड़ियाँ हैं, इसे तौलकर देखलो यदि ज्यादा होय तो दाम देना, नहीं मत देना'। जब उन्होंने तोल कर देखा तो ठीक एक मन निकली। उसे उन्होंने आठ आने दे दिए। इस तरह रोज उसकी लकड़ी बिच जाया करती। एक दिन जब वह लकड़ी ले जा रहा था तो रास्ते में एक नौकर ने आवाज दी 'अरे, क्या लकड़ी बेचेगा ? उसने कहा 'हां'। 'क्या दाम लेगा, नौकर ने पूछा। उसने कहा 'आठ आने'। 'सात आने लेगा' नौकर बोला। उसने कहा 'नहीं'। फिर उसने बुलाया और कहा 'अच्छा, साढे सात आने लेगा'। वह बोला 'अरे, तू किस बेवकूफ का नौकर है। एक बार कह दिया नहीं लूँगा। ऊपर से उसका सेठ सुन रहा था। वह एकदम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है ?' उसने कहा 'ठीक कहता हूँ।' यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता। सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे

तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूँगा। तुम महा बदमाश पर स्त्री लं.टी. ो। इतने दिनों तक शास्त्रश्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पंच-पापों का त्याग कर दिया। सेठ उसके ऐसे वचन सुनकर एक दम सहम गया। गर्ज यह है कि उसने भी उसी समय पंच पापों का त्याग कर दिया। तो देखो उस पर वक्ता का असर नहीं पड़ा और उस लकड़हारे को उपदेश लग गया। तो हम सुमार्ग पर चलते हैं तब दूसरों पर असर पड़ता है। हम रोते हैं कि हमारे बच्चे कहना नहीं मानते। अरे, माने कैसे? तुम तो सुमार्ग पर चलते नहीं हो वे कैसे तुम्हारा कहना मानें। बताओ। तुम तो स्वयं शुद्ध भोजन करते नहीं फिर कहते हो कि बीमार पड़ गए। ये जितनी भी बीमारियाँ होती हैं सब अशुद्ध भोजन खाने से होती हैं। तुम तो बाजार में चाट उड़ाओ और घर आकर अपनी स्त्री से कहो कि बाजार का मत खाओ। और कदाचित् खा भी ले तो फिर कहते हो हमारी स्त्री बीबी बन गई। अरे बीबी नहीं, वह तो बाबा होजायगी। आप स्वयं शुद्ध भोजन करने का नियम तो लो, वह दूसरे दिन स्वयं शुद्ध भोजन बनाने लगेगी। यदि तुम्हें फिर भी शुद्ध भोजन न मिले तो चक्की लेकर बैठ जाओ। दूसरे दिन

वह स्वयं अपने आप पीसना शुरू कर देगी। तुम तो पर स्त्री लंपटी बनो और स्त्री को ब्रह्मचर्य का उपदेश करो। आप तो रावण बनो और स्त्री से सती सीता बनने की आशा करो। कैसा अन्याय है ? ध्यान दो-यदि स्त्री को सीता रूप में देखना चाहते हो तो तुम स्वयं राम बनो राम जैसे कार्य करो। तभी तुम्हारी कामनाऐं सफल होंगी।

तुम कहते हो कि जितने भी त्यागी आते हैं वह यही उपदेश करते हैं कि यह त्यागो, वह त्यागो। तो वह तो तुम्हारे हित का ही उपदेश करते हैं। अरे, तुम पर वस्तुओं को अपना माने हुए हो तभी तो वह त्यागने का उपदेश करते हैं। और चोट्टापन क्या है ? पराई वस्तु को अपनी मानना यही तो चोट्टापन है। तो वह तुम्हारा यह चोट्टापन छुड़वाना चाहते हैं और वह तुम्हें बुरा लगता है। हाँ, यदि तुम्हारे निज की चीज छुड़वाए तो तुम कह सकते हो। ज्ञान दर्शन तुम्हारी चीज है। उसे अपनाओ। लेकिन पर द्रव्यों को क्यों अपनाते हो ? यह कहाँ का न्याय है ? अतः वह तुम्हारे हित का ही उपदेश करते हैं।

इस जीव के अनादि से चार संज्ञाऐं लग रही हैं। अब बताओ आहार करना कौन सिखलाता है ? इसी तरह पुद्गल में भी इसकी आत्मीय बुद्धि लग रही है। अब देखो

यह लाल कपड़ा हम पहिने हुए हैं। तो इस लाल कपड़ा पहिनने से क्या यह लाल शरीर होजाता है ? यह कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा है, इतना मोटा पतला है तो क्या यह शरीर इतना लम्बा चौड़ा दुबला पतला हो जाता है ? नहीं। इसी तरह यह शरीर कभी आत्मा होता नहीं। इस शरीर में जो पूरण गलन स्वभाव है वह कभी आत्मा का नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गल की क्रिया है वह त्रिकाल में आत्मा की क्रिया नहीं है। अपनी वस्तु को अपना मानना ही बुद्धिमानों का कार्य है।

तो भइया यह कोई बड़ी बात नहीं है। उस तरफ केवल हमारा लक्ष्य ही नहीं है। पर कम से कम इतना तो जरूर हो जावे कि इस पुद्गल से यह अभिप्राय हटाले कि 'इदम मम्' यह मेरी है। श्रद्धा में यह तो बिलकुल जम जावे। हम तो कहते हैं कि चारित्र को पालो या मत पालो कोई हर्ज नहीं। गृहस्थी को त्यागने की भी आवश्यकता नहीं। पर यह श्रद्धान तो दृढ हो जाना चाहिए। अरे, चारित्र तो कालान्तर पाकर हो ही जायगा। जब यह जान लिया कि यह मेरी चीज नहीं है तो उसे छोड़ने में कोई बड़ी भारी बात नहीं। अब तीर्थंकरों को ही देखिए।

जब तक आयु पूर्ण न होय तब तक देखें मोक्ष कैसे चले जाँय। तो श्रद्धान में यह निश्चय बैठ जाना कि न मैं पुद्गल का हूँ और न पुद्गल मेरा है। इसके बिना करोड़ों जप तप करो कुछ फलदायी नहीं। अत श्रद्धा में अमोघ शक्ति है।

(त्याग का वास्तविक रूप)

आज आकिञ्चन्य धर्म है पर दो द्वादशी हो जाने से आज भी त्याग धर्म माना जायगा। त्याग का स्वरूप कल आप लोगों नें अच्छी तरह सुना था। आज उसके अनुसार कुछ काम करके दिखलाना है।

मूर्च्छा का त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है, उसे आप क्या छोडेंगे? वह तो छूटी ही है। रूपया, पैसा धन दौलत सब आपसे जुदे हैं। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्च्छा छोड दो, लोभ छोड दो, क्योंकि मूर्च्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्मा का विभाव है। धन का त्याग लोभ कषाय के अभाव में होता है। लोभ का अभाव होनें से-आत्मा में निर्मलता आती है। यदि कोई लोभ का त्यागकर मान करनें लग जाय-दान करके अहङ्कार करने लग जाय तो वह मान कषाय का दादा

हो गया। 'चूल्हे से निकले भाड़ में गिरे' जैसी कहावत होगई। सो यदि एक कषाय से बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो।

देखें, आप लोगों में से कोई त्याग करता है या नहीं। मैं तो आठ दिन से परिचय कर रहा हूँ। आज तुम भी करलो। इतना काम तुम्हीं करलो।

एक आदमी से एक ने पूछा-आप रामायण जानते हो तो बताओ उत्तर कांड में क्या है? उसने कहा—अरे, उत्तर-कांड में क्या धरा? कुछ ज्ञान ध्यान की बातें हैं। अच्छा, अरण्य कांड में क्या है? उसमें क्या धरा? अरण्य वन को कहते हैं, उसी की कुछ बातें हैं। लङ्का कांड में क्या है? अरे, लङ्का को कौन नहीं जानता? वही तो लङ्का है जिसमें रावण रहा करता था। भैया! अयोध्याकांड में क्या है? बड़ी बात पूछी उसमें क्या है? वही तो अयोध्या है जिसमें रामचन्द्रजी पैदा हुए थे। अच्छा, बाल काण्ड में क्या है? खूब रही, इतने काण्ड हमने बताए, एक काण्ड तुम्हीं बतलादो। सभी काण्ड हम ही से पूछना चाहते हो। इसी प्रकार हमारा भी कहना है कि इतने धर्म तो हमने बतला दिए। अब एक त्यागधर्म तुम्हीं बतलादो। और हमसे जो कुछ कहो सो हम त्याग करने को तैयार हैं--कहा तो चले जायें।

(हँसी)। आपके त्याग से हमारा लाभ नहीं-आपका लाभ है। आपकी समाज का लाभ है, आपके राष्ट्र का लाभ है। हमारा क्या है ? हमें तो दिन में दो रोटियाँ चाहिए, सो आप न दोगे, दूसरे गाँववाले दे देंगे। आप लुटिया न उठाओगे तो (क्षुल्लकजी के हाथ से पीछी हाथ में लेकर) यह पीछी और कमण्डलु उठाकर स्वयं विना बुलाए आपके यहाँ पहुँच जाऊँगा। पर अपना सोचलो। आज परिग्रह के कारण सबकी आत्मा (हाथ का इशारा कर यों काँप रही हैं। रात दिन चिन्तित हैं--कोई न ले जाय। कँपने में क्या धरा ? रक्षा के लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरे का मुँह क्या ताकते हो ? या अटूट श्रद्धान रक्खो जिस काल में जो बात जैसी होने वाली है वह उस काल में वैसी होकर रहेगी।

यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥

यह नीति बच्चों को हितोपदेश में पढाई जाती है। जो काम होने वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अन्यथा प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियाँ के स्वामी थे पर उन्हें एक वस्त्र भी नहीं मिला। और हरि (कृष्ण) संसार के रक्षक थे उन्हें सोने के लिए

मखमल आदि कुछ नहीं मिला। क्या मिला? सर्प।

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होंसी वीरा रे।
अनहोंनी होंसी नहिं कबहूँ काहे होत अधीरा रे॥

होगा तो वही जो वीतराग ने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी।

दिल्ली की बात है। वहाँ हरजसराय (?) रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन-पूजन का उनके नियम था। जब संवत् १४ ?) की गदर पड़ी तब सब लोग इधर उधर भाग गये। इनके लड़कों ने कहा—पिताजी! समय खराब है, इसलिए स्थान छोड़ देना चाहिए। हरजसराय ने कहा—तुम लोग जाओ, मैं वृद्ध आदमी हूँ। मुझे धन की आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्र की पूजा कौन करेगा? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्ति के समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिता के आग्रह से लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसराय ने स्वयं अपने हाथों सब तिजोरियाँ खोल दीं। चोरों ने सब सामान इकट्ठा किया। ले जाने को तैयार हुए, इतने में एकाएक उनके मन में विचार आया कि कितना भला आदमी है? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटने के लिए सारी दिल्ली पड़ी है, कौन यही

एक है, इस धर्मात्मा को सताना अच्छा नहीं हरनसराय ने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये। और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करें, इस ख्याल से उसके दरवाजे पर ५ डाकुओं का पहरा बैठा गये। मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। 'बाल न बॉका कर सके जो जग ही रिपु होंय।' जिसका धर्म पर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरूद्ध हो जाये तो भी उसका बाल बॉका नहीं हो सकता। तुम ऐसा विश्वास करो, तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ ले तो मैं जिम्मेदार हूँ; लिखालो मुझसे।

मैं श्रद्धा की बात कहता हूँ। बरूआसागर में मूलचन्द्र था। बड़ा श्रद्धानी था। उसके पाँच विवाह हुए थे। पाँचवी स्त्री के पेट में गर्भ था। कुछ लोग बैठे थे, मूलचन्द्र था, मैं भी था। किसी ने कहा कि मूलचन्द्र के बच्चा होगा, किसी ने कहा बच्ची होगी, इस प्रकार सभी ने कुछ न कुछ कहा। मूलचन्द्र मुझसे बोला—आप भी कुछ कह दो। मैंने कहा भैया! मैं निमित्त ज्ञानी तो हूँ नहीं जो कह दूँ कि यह होगा। वह बोला—जैसी एक एक गप्प इस लोगों ने छोड़ी वैसी आप भी छोड़ दीजिए।

मुझे कह आया कि बच्चा होगा और उसका श्रेयांसकुमार नाम होगा। समय आने पर उसके बच्चा हुआ। उसने तार देकर बाईजी को तथा मुझे बुलाया। हम लोग पहुँच गये। बड़ा खुश हुआ। उसने खुशी में बहुत सारा गल्ला गरीबों को बांटा और बहुतों का कर्ज छोड़ दिया। नाम-संस्करण के दिन एक थाली में सौ-दो-सौ नाम लिखकर रक्खे और एक पांच वर्ष की लड़की से उनमें से एक कागज निकलवाया। सो उसमें श्रेयांसकुमार नाम निकल आया। मैंने तो गप्प ही छोड़ी थी। पर वह सच ही निकल आई। एक बार श्रेयांसकुमार बीमार पड़ा तो गांव के कुछ लोगों ने मूलचन्द्र से कहा कि एक सोने का राक्षस बनाकर कुए को चढ़ा दो। मूलचन्द्र ने बड़ी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया कि यह लड़का मर जाय, मूलचन्द्र मर जाय, उसकी स्त्री मर जाय, सब मरजाय; पर मैं राक्षस बनाकर नहीं चढ़ा सकता। श्रेयांसकुमार उसके पांच विवाह बाद उत्पन्न एक ही लड़का था फिर भी अपने श्रद्धान पर डटा रहा। सो श्रद्धान तो यही कहता है। जो मौका आने पर विचलित हो जाते हैं उनके श्रद्धान में क्या धरा?

यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि

सम्यक्दृष्टि निःशङ्क होता है--निर्भय होता है। मैं आपसे पूछता हूँ कि उसे भय है ही किस बात का ? वह अपने आपको जब अजर अमर, अविनाशी पर पदार्थ से भिन्न श्रद्धान करता है, उसे जब इस बात का विश्वास है कि पर पदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद-ज्ञान ज्योतिस्वरूप हूँ। मैं एक हूँ। पर पदार्थ से मेरा क्या सम्बन्ध ? अणुमात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञान में ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न हैं। मैं रस को जानता हूँ पर रस मेरा नहीं होजाता। मैं नव पदार्थों को जानता हूँ पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान कुन्द कुन्द स्वामी ने लिखा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मित्तं पि॥

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ। अधिक की बात जाने दो परमाणुमात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं है।

पर बात यह है कि हम लोगों ने तिली का तैल खाया है, घी नहीं। इसलिये उसे ही सब कुछ समझ रहे हैं। कहा है— 'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदित परमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीय॥

जिसने वास्तविक सुख का अनुभव नहीं किया वह विषय सुख को ही रमणीय कहता है। इस जीव की हालत उस मनुष्य के समान हो रही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठी में है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहाँ धरा? आत्मा की चीज आत्मा में ही मिल सकती है।

एक भद्र प्राणी था। उसे धर्म की इच्छा हुई। मुनिराज के पास पहुँचा, मुझे धर्म चाहिए। मुनिराज ने कहा-भया! मुझे और बहुत सा काम करना है। अतः अवसर नहीं। इस पास की नदी में चले जाओ, उसमें एक नाकू रहता है। मैंने उसे अभी अभी धर्म दिया है वह तुम्हें दे देगा। भद्रप्राणी नाकू के पास जाकर कहता है कि मुनिराज ने धर्म के अर्थ मुझे आपके पास भेजा है, धर्म दीजिए। नाकू बोला, अभी लो, एक मिनिट में लो पर पहिले एक काम मेरा करदो। मैं बड़ा प्यासा हूँ, यह सामने किनारे पर एक कुआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिलादो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्रप्राणी कहता है-तू बड़ा मूर्ख मालूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानी में बैठा है और कहता कि मैं प्यासा हूँ। नाकू ने कहा कि भद्र! जरा अपनी ओर भी देखो। तुम भी चौबीसों घण्टे धर्म में बैठे हो, इधर उधर धर्म की खोज

में क्यों फिर रहे हो ? धर्म तो तुम्हारा आत्मा का स्वभाव है, अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस काल में जो बात होनें वाली होती है उसे कौन टाल सकता है ? भगवान आदिनाथ को ६ माह आहार नहीं मिला। पाण्डवों को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होनें वाला था, ज्ञान कल्याणक का उत्सव करने के लिये देवलोग आने वाले थे। पर इधर उन्हें तप्त लोहे के जिरहबख्तर पहिनाये जाते हैं। देव कुछ समय पहिले और आ जाते ! आ कैसे जाते ? होना तो वही था जो हुआ था। यही सोच कर सम्यग्दृष्टि न इस लोक से डरता है, न पर लोक से। न उसे इस बात का भय होता है कि मेरी रक्षा करने वाले गढ, कोट आदि कुछ भी नहीं हैं। मैं कैसे रहूँगा ? न उसे आकस्मिक भय होता है और सब से बड़ा मरण का भय होता है सो सम्यग्दृष्टि को वह भी नहीं होता। वह अपने को सदा 'अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञान ज्योति स्वरूप' मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार से उदासीन होकर रहता है। तुलसीदास ने एक दोहे से कहा है-

'जग तै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

संसार से छत्तीस ३६ के समान विमुख रहो और रामचन्द्रजी के चरणों में ६३ के समान सम्मुख।

वास्तव में वस्तुतत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टि की आत्मा बडी पवित्र हो जाती है, उसका श्रद्धान गुण बडा प्रबल हो जाता है। यदि श्रद्धान न होता तो आपके गाँव में जो २८ उपवास वाला बैठा है वह कहाँ से आता ? इस लड़की के (काशीबाई की ओर संकेत करके) आज आठवाँ उपवास है। नत्थू कहीं बैठा होगा। उसके बारहवाँ उपवास है और एक एक, दो दो उपवासवालों की तो गिनती ही क्या है ? 'अलमा कौन पियादों में'? वे तो सो दो-सौ होंगे। यदि धर्म का श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश ब्लैकट में कौन सहता ?

व्याख्यान की बात थी सो तो हो चुकी। अब आपके नगर के एक बडे आदमी का कुछ आग्रह है सो प्रकट करता हूँ। भैया ! मैं तो ग्रामोफोन हूँ, चाहे जो बजा लेता है-जो मुझे जैसी कहता है वैसी ही कह देता हूँ। इन बडे आदमियों की इतनी बात माननी पड़ती है; क्योंकि उनका पुण्य ही ऐसा है। अभी यहाँ बैठने को जगह नहीं है पर सेठ हुकुम-चन्द्र आजाय तो सब कहने लगोगे, इधर आओ, इधर आओ। अरे, हमारी तुम्हारी बात जानेदो, तीर्थकरों की दिव्यध्वनि तो समय पर ही खिरती है पर यदि चक्रवर्ती पहुँच जाय तो असमय में भी खिरने लगती है। अपने रागद्वेष है पर उनके तो नहीं है। चक्रवर्ती की पुण्य की प्रबलता से भगवान की दिव्यध्वनि अपने आप खिरने लगती है। हाँ, तो यह

सिघईजो कह रहे हैं कि महिलाश्रम के लिये अभी कुछ हो जाय तो अच्छा है फिर मुश्किल होगा। भैया! मैं विद्यालय को तो माँगता नहीं और उस वक्त भी नहीं माँगे थे, पर बिना मांगे ही सेठ रु५०००) दे गया तो मैं क्या करूँ मैं तो बाहर की संस्थाओं को देता था, पर मुझे कह आया कि यदि सागर इतने ही और देवे तो सब वही ले ले। आप लोगों ने बहुत मिला दिये। कुछ बाकी रह गये सो आप लोग अपना वचन न निभाओगे तो किसी से भीख माँग दूँगा। यह बात महिलाश्रम की है जैसे बच्चे तैसे बच्चियाँ। आपकी ही तो हैं। इनकी रक्षा में यदि आपका द्रव्य लगता है तो मै समझता हूँ अच्छा ही हो रहा है। पाप करके लक्ष्मी का संचय जिनके लिये करना चाहते हो वे उसके फल भोगने में शामिल न होंगे। बाल्मीकि का किस्सा है। बाल्मीकि जो एक बड़ा ऋषि माना जाता है, चोरी-डकैती करके अपने परिवार का पालन करता था। उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था। एक बार एक साधु निकले। उनके हाथ में कमण्डलु था। बाल्मीकि ने कहा-रखदो यहीं कमण्डलु। साधु ने कहा-बच्चे! यह तो डकैती है, इसमें पाप होगा। बाल्मीकि ने कहा-मैं पाप पुण्य कुछ नहीं जानता, कमण्डलु रखदो। साधु ने कहा-अच्छा, मैं यहीं खड़ा रहूँगा, तुम अपने घर के लोगों से पूछ आओ

कि मैं एक डकैती कर रहा हूँ उसका जो फल होगा उसमें शामिल हो, कि नहीं ? लोगों ने टका सा जवाब दे दिया-तुम चाहे डकैती कर के लाओ, चाहे साहुकारी से। हम लोग तो खाने भर में शामिल हैं। वाल्मीकि की बात जम गई और वापिस आकर साधु से बोला-बाबा ! मैंने डकैती छोड़ दी। आप मुझे आपना चेला बना लीजिए।

बात वास्तविक यही है। आप लोग पाप-पुण्य के द्वारा जिनके लिये सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देने वाले नहीं है। अतः समय रहते सचेत हो जाओ। देखें, आप लोगों में से कोई हमारा साथ देता है या नहीं।

(अहिंसा-तत्व)

अहिंसा तत्व ही एक इतना व्यापक है जो इसके उदर में सर्व धर्म आ जाते हैं जैसे हिंसा पाप में सब पाप गर्भित हो जाते हैं। सर्व से तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रह से है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब आत्म-गुण के घातक हैं अतः ये सब पाप ही हैं। इन्हीं कषायों के द्वारा आत्मा पापों में प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोक में पुण्य कहते हैं वह भी कषायों के सद्भाव में होते हैं। कषाय आत्मा के गुणों का घातक हैं अतः जहां पुण्य होता है वहाँ भी आत्मा

के चारित्र गुण का घात है और इसलिये वहाँ भी हिंसा ही है। अतः जहाँ पर आत्मा की परिणति कषायों से मलीन नहीं होती वहीं पर आत्मा का अहिंसा-परिणाम विकास रूप होता है उसीका नाम यथाख्यात चारित्र है। जहाँ पर रागादि परिणामों का अंश भी नहीं रहता उसी तत्व को आचार्यों ने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः' श्रीअमृतचन्द्र स्वामी ने उसका लक्षण यों कहा है:—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवेत्य हिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप ॥

'निश्चय कर जहां पर रागादिक परिणामों की उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसा की उत्पत्ति है और जहां रागादिक परिणामों की उत्पत्ति होती है वहीं पर हिंसा होती है। ऐसा जिनागम का संक्षेप से कथन जानना'। यहाँ पर रागादिकों से तात्पर्य आत्मा की परिणति विशेष से है-पर पदार्थ में प्रीतिरूप परिणाम का होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणाम का नाम द्वेष, और तत्व की अप्रतिपत्तिरूप परिणाम का होना मोह; अर्थात् राग, द्वेष, मोह ये तीनों आत्मा के विकार भाव हैं। ये जहां पर होते हैं वहीं आत्मा कलि (पाप) का संचय करता है, दुखी

होता है, नाना प्रकार पापादि कार्यों में प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि कार्यों में व्यग्र रहता है, तीव्र राग द्वेष हुआ तब विषयों में प्रवृत्ति करता या हिंसादि पापों में मग्न हो जाता है। कहीं भी इसे शांति नहीं मिलती। यह सर्व अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शांति से अपना जो ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप है उसी में लीन रहता है। जैसे जल में पङ्क के संबंध से मलिनता रहती है, यदि पंक का संबंध उससे पृथक हो जावे तब जल स्वयं निर्मल हो जाता है। तदुक्तं--'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत्।' निर्मलता के लिये हमें पंक को पृथक करने की आवश्यकता है। अथवा जैसे जल का स्वभाव शीत है, अग्नि के संबंध से जल में उष्णता पर्याय हो जाती है, उस समय जल देखा जावे तो उष्ण है। यदि कोई मनुष्य जल को शीत-स्वभाव मानकर पान कर जावे तब वह नियम से दाह भाव को प्राप्त हो जावगा। अतएव जलको शीत करने के वास्ते आवश्यकता इस बात का है जो उसको किसी वर्तन में डालकर उसकी उष्णता पृथक कर देना चाहिये इसी प्रकार आत्मा में मोहोदय से रागादि परिणाम होते हैं वे विकृत-भाव है। उनके न होने का यही उपाय है जो वर्तमान में रागादिक हों उनमें उपादेयता का

भाव त्यागे यही आगामी न होने में मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास हो जाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी हो जाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता हैं, उनके एक बार ही पर पदार्थों से निजत्व बुद्धि मिट जाती है। और जब पर में निजत्व की कल्पना मिट जाती है तब सुतरां रागद्वेष नहीं होते। जहाँ आत्मा में रागद्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसा उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष-मार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त काल जिस रूप परिणमगया, उसी रूप रहता है। जिन भगवान नें यही अहिंसा का तत्व बताया है—अर्थात् जो आत्माऐं रागद्वेष मोह के अभाव से मुक्त हो चुकी हैं उन्हीं का नाम जिन है। वह कौन है? जिसको यह भाव हो गये वही जिन हैं। उसने जो कुछ पदार्थ का स्वरूप दर्शाया उस अर्थ के प्रतिपादक जो शब्द है उसे जिनागम कहते हैं। परमार्थ से देखा जाय तो, जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाती है उसके अभिप्राय में न तो पर के उपकार के भाव रहते हैं और न अनुपकार के भाव रहते हैं। अतः न उनके द्वारा किसी के हित की चेष्टा होती हैं और न अहित की चेष्टा होती है किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदय में आकर अपना रस देता है। उस काल में उनके शरीर से जो शब्द-वर्गणा निकलती है

उनसे क्षयोपशमज्ञानी वस्तु वस्रूप के जानने के अर्थ आगम रचना करते हैं।

आज बहुत से भाई जैनों के नाम से यह समझते हैं जो वह एक जाति विशेष है। यह समझना कहाँ तक तथ्य हैं, पाठकगण जानें। वास्तव में जिसने आत्मा के विभाव भावों पर विजय पाली वही जैन है। यदि नाम का जैनी है और उसने मोहादि कलंकों को नहीं जीता तब वह नाम 'नाम का नैन सुख आँखों का अन्धा' की तरह है। अतः मोह विकल्पों का छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तव में तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है— जिस पात्र में रक्खी है वह नहीं कहता; क्योंकि जड़ है। ज्ञान चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी होती है परन्तु यह भी कथन नहीं बनता, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञान में नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञान में गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जा सकता है? अथवा जब ज्ञान में ही पदार्थ नहीं आता तब शब्द से उसका व्यवहार करना कहाँ तक न्याय-संगत है। इससे यह तात्पर्य निकला-मोह परिणामों से यह व्यवहार

है अर्थात् जब तक मोह है तब तक ज्ञान में यह कल्पना है। मोह के अभाव से यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है-यह असंगत नहीं। जब तक प्राणी के मोह है तब तक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोह के अभाव में यह सर्व व्यवहार विलीन हो जाते हैं—जब यह आत्मा मोह के फन्द में रहता है तब नाना कल्पनाओं की सृष्टि करता है, किसी को हेय और किसी को उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्ततः भ्रमण करता है। मोह के अभाव में आप से आप शान्त हो जाता है। विशेष क्या लिखूँ, इसका मर्म वे ही जानें जो निर्मोही हैं, अथवा वे हीं क्या जानें, उन्हें विकल्प ही नहीं।

॥ इति ॥